2. मूलभूत अवधारणाएँ–I
समाज, समुदाय, समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका

समाज
(Society)

समाजशास्त्र में समाज एक महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक अवधारणा है। जब समाजशास्त्र को 'समाज के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया जाता है तो ऐसी दशा में इस विज्ञान को सही रूप में समझने की दृष्टि से समाज के निश्चित अर्थ को समझना आवश्यक है।

समाज का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and definition of society)

सामान्य बोलचाल की भाषा में समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है या किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है, जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, हिन्दू समाज इत्यादि। विभिन्न समाज वैज्ञानिकों तक ने समाज शब्द का अर्थ अपने–अपने ढंग से लगाया है उदाहरण के रूप में अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। वहीं राजनीतिशास्त्री समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में देखते हैं वहीं मानवशास्त्री आदिम समुदायों को ही समाज मानता है।

मैकाइवर और पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों के जाल या ताने बाने के रूप में परिभाषित किया है। आपने संबंधों की इस सदैव परिवर्तित होती रहने वाले जटिल व्यवस्था को समाज माना है।

समाजशास्त्र में सामाजिक संबंध केन्द्रीय अध्ययन वस्तु है। जब असंख्य सामाजिक संबंधों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं। यहाँ हम 'समाज' की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

पारसंस के अनुसार, 'समाज को उन मानवीय संबंधों की संपूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन–साध्य संबंधों (Mean ends relationship) के रूप में क्रिया करने में उत्पन्न हुए हों, चाहे ये यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।'' पारसंस की इस परिभाषा में क्रिया को विशेष महत्व दिया जाता है और किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में किए गए कार्य को ही क्रिया कहा गया है। ऐसी क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न संबंधों को ही सामाजिक संबंध और इन सामाजिक या मानवीय संबंधों से बनने वाली संपूर्ण जटिलता या व्यवस्था को समाज कहा गया है।

गिडिंग्स के अनुसार, 'समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।'' इस परिभाषा में समाज के लिए सहयोगी संबंधों को आवश्यक माना गया है जो व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

रयूटर के अनुसार, (समाज) एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की जटिलता (संपूर्णता) का बोध कराती है। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्तियों के बीच पनपने वाले संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था को समाज माना गया है जो कि अमूर्त है।

समाज की अवधारणा : मैकाइवर के अनुसार
(Concept of society According to Maciver)

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाज रीतियों एवं कार्य–प्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।'' आपने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही उन आधारों अथवा महत्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख भी किया है जिनकी सहायता से सामाजिक संबंध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण करते हैं, एक सामाजिक संस्था को निर्मित करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर मैकाइवर एवं पेज ने समाज के निम्नांकित महत्वपूर्ण आधारों या तत्वों पर प्रकाश डाला है।

1. रीतियाँ (Usages)–रीतियाँ या प्रथाएँ सामाजिक मानदंडों का एक प्रमुख प्रकार हैं। ये समाज के निर्माण में आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाए रखने में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं, जैसे खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा, विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा, आदि से संबंधित रीतियाँ। ये रीतियाँ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं। इसके विपरीत आचरण या व्यवहार करने पर व्यक्ति को अन्य लोगों की आलोचना का पात्र बनना पड़ता है। कभी–कभी रीतियों के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति को दंडित भी किया जाता है। रीतियाँ समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं।

2. कार्य प्रणालियाँ (Procedures) – कार्य–प्रणालियों को भी समाज का एक प्रमुख आधार माना गया है। मैकाइवर एवं पेज ने सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रणालियों को ही संस्थाओं के नाम से पुकारा है। इन्हीं के माध्यम से एक समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। एक समाज में व्यक्तियों की सभी क्रियाएं सामान्यतः इन कार्य प्रणालियों के अनुरूप ही होती हैं। इन्हीं से नियंत्रित होती हैं। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष कार्य–प्रणालियाँ होती

हैं जो अन्य समाजों की कार्य प्रणालियों से भिन्न होती हैं। उदाहरण के रूप में, हिन्दुओं की विवाह से संबंधित कार्य–प्रणाली मुसलमानों या ईसाइयों की विवाह संबंधी कार्य प्रणाली से भिन्न है।

3. अधिकार (Authority)– अधिकार को सत्ता या प्रभुत्व के नाम से भी जाना जाता है। यह सभी समाज का एक प्रमुख आधार है। कोई भी ऐसा समाज दिखायी नहीं पड़ेगा जिसमें प्रभुत्व एवं अधीनता के संबंध नहीं पाए जाते हों। समाज में अनेक संगठन, समूह, समितियाँ, आदि होते हैं जिनके कार्य–संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था और शांति बनाए रखना संभव नहीं है। परिवार में यह अधिकार या शक्ति कर्ता के पास, जाति में पंच के पास, गाँव में मुखिया के पास केन्द्रित रही है। स्कूल, कॉलेज, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, आदि में किसी–न–किसी व्यक्ति के पास अधिकार या सत्ता सदैव ही मौजूद रही है। वर्तमान समय में जटिल समाजों में अधिकार या सत्ता कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में केन्द्रित है जो व्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

4. पारस्परिक सहायता (Mutual Aid)– यह समाज का एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण आधार है। जब तक कुछ व्यक्ति अपने अपने उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, तब तक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। समाज के लिए सहयोगी संबंधों का होना अत्यंत आवश्यक है। सहयोगपूर्ण संबंधों के अभाव में तो एक छोटे से छोटे समूह–परिवार तक भी अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकता। जिस समाज में पारस्परिक सहयोग की मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही अधिक मात्रा में प्रगति की ओर आगे बढ़ेगा। वर्तमान में सहयोग के क्षेत्र के बढ़ जाने से समाज का आकार काफी विस्तृत हो गया है।

5. समूह एवं विभाग (Groups and departments)– समाज अनेक समूहों एवं विभागों या उप–समूहों से मिलकर बना होता है। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियाँ, संगठन आदि पाये जाते हैं जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार, क्रीड़ा–समूह, पड़ौस, जाति, गाँव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संगठन, स्कूल, महाविद्यालय, आदि, अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता है और जो व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं। आयु, लिंग, जाति, प्रजाति, वर्ग, आदि के आधार पर समाज में अनेक विभाजन देखने को मिलते हैं। ये सभी समूह एवं विभाग आपस में एक–दूसरे से संबंधित होते हैं। ये समूह जितने अधिक संगठित होंगे, समाज भी उतना ही अधिक उन्नत होगा।

6. मानव व्यवहार का नियंत्रण (Controls of Human Behaviour)– समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है और इस व्यवस्था को ठीक से संचालित करने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाए। व्यक्ति की आवश्यकताएँ असीमित हैं, जैसे धन, वैभव, सम्मान, शक्ति, आदि से संबंधित आवश्यकताएँ एवं इच्छाएँ। यदि व्यक्ति की इच्छाओं को नियंत्रित नहीं किया जाए और व्यक्ति को उन्हें मनमाने ढंग से पूरा करने की छूट दे दी जाए तो समाज में व्यवस्था का बना रहना संभव नहीं होगा। ऐसी दशा में व्यक्ति स्वच्छंद या मनमाने तरीके से व्यवहार करने लगेंगे तथा आदर्श–शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और समाज विघटित होने लगेगा। अतः मानव व्यवहार के नियंत्रण हेतु समाज में सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है। इन साधनों को काम में लिए बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों में कानून, न्याय–व्यवस्था, पुलिस, प्रशासन, आदि और अनौपचारिक साधनों में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, धर्म, नैतिकता आदि आते हैं। इन सभी साधनों से व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने और सामाजिक संबंधों को व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

7. स्वतंत्रता (Liberties)– समाज के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वतंत्रता का विशेष महत्व है। समाज में स्वतंत्रता का अर्थ मनमाने ढंग से कार्य, व्यवहार या आचरण करने से नहीं है। यहाँ इसका तात्पर्य सभी व्यक्तियों को अपने विकास हेतु उचित वातावरण प्रदान करने से है। जहां समाज में व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक और अनौपचारिक साधनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, वहां उसे कुछ क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्रदान करना भी आवश्यक है। स्वतंत्र वातावरण में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर समाज की प्रगति में योग दे सकता है। बहुत अधिक नियंत्रण व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं, उसकी विवेक और चिन्तन शक्ति को कुंठित करते हैं। हमें यह भी ध्यान में रखना है कि जहां स्वतंत्रता व्यक्ति की इच्छानुसार कार्य करने का सुअवसर देती है, वहाँ साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर दे, उनके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करे।

इस प्रकार मैकाइवर और पेज ने समाज के उपर्युक्त सात आवश्यक आधार (तत्व) बताए हैं। आपने समाज को सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था माना है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि ये सभी सामाजिक संबंध आपस में गुंथे हुए हैं। सामाजिक संबंधों के जाल में निर्मित यह जटिल व्यवस्था निरंतर बदलती रहती है, इसमें हर समय कुछ–न–कुछ परिवर्तन होते ही रहते हैं।

मैकाइवर और पेज की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाज सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है और इसके सात आधार हैं, परंतु साथ ही समाज के लिए निम्नलिखित तीन बातों का होना भी आवश्यक है जो इस प्रकार है– (1) व्यक्तियों की बहुलता– समाज विभिन्न व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले

सामाजिक संबंधों से बनता है। यद्यपि समाज व्यक्तियों का समूह तो नहीं है, परंतु यह भी सत्य है कि व्यक्तियों के अभाव में सामाजिक संबंधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः समाज के लिए प्रथम आवश्यकता व्यक्तियों का समूह है ताकि सामाजिक संबंध निर्मित हो सकें। (2) सामाजिक संबंध– व्यक्तियों के बीच पनपने वाले सामाजिक संबंधों के संगठित रूप को ही समाज माना गया है। सामाजिक संबंध ही समाज का प्रमुख आधार है। इन संबंधों के अभाव में व्यक्तियों कि किसी भीड़ या झुंड मात्र को समाज नहीं कहा जा सकता। (3) सामाजिक अन्तः क्रिया– केवल व्यक्तियों के होने और उनमें सामाजिक संबंधों के पनपने मात्र से समाज का निर्माण नहीं हो जाता। यहाँ उन व्यक्तियों में सामाजिक अन्तःक्रिया का होना भी आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें न केवल एक–दूसरे की जानकारी होनी चाहिए, बल्कि उनमें पारस्परिक जागरूकता भी होनी चाहिए साथ ही उनके द्वारा एक–दूसरे को प्रभावित भी किया जाना चाहिए।

यहां हमें यह भी ध्यान में रखना है कि समाज को चाहे व्यक्तियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जाए जिसमें मनुष्य सामान्य जीवन व्यतीत कर सके या सामाजिक संबंधों के जाल के रूप में परिभाषित किया जाए। उसका (समाज का) अपना 'जीवन का एक तरीका' होता है जिसे संस्कृति कहते हैं। ऐली चिनोय ने बताया है कि इस दृष्टि से समाज को उसकी प्रमुख संस्थाओं– पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आदि के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में समाज पर संस्थाओं की संरचना और सामाजिक संबंधों की संरचना– दोनों ही रूपों में विचार किया जाना चाहिए।

समाज की विभिन्न परिभाषाओं पर गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि सभी समाजशास्त्री समाज के लिए सामाजिक संबंधों को आवश्यक मानते हैं और वे ऐसे संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही 'समाज' कहते हैं।

समाज की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

Few main characteristics of society

समाज और उसकी प्रकृति को स्पष्टतः समझने के लिए यहाँ हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे जो निम्नलिखित है–

1. पारस्परिक जागरूकता (mutual awareness)– पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक संबंध बन सकते हैं और न ही समाज। जब तक लोग एक दूसरे की उपस्थिति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होंगे, तब तक उनमें जागरूकता नहीं पायी जा सकती है और अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। इस जागरूकता के अभाव में वे न तो एक दूसरे से प्रभावित होंगे और न ही प्रभावित करेंगे अर्थात् उनमें अन्तःक्रिया नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक संबंधों के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना अत्यंत आवश्यक है और इस जागरूकता के आधार पर निर्मित होने वाले सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा गया है।

2. समाज अमूर्त है (Society is abstract)– समाज व्यक्तियों का समूह न होकर उनमें पनपने वाले सामाजिक संबंधों का जाल है। सामाजिक संबंध अमूर्त हैं। इन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है। इन्हें तो केवल अनुभव किया जा सकता है। अतः सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित समाज ही अमूर्त है। यह तो अमूर्त सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है। राइट के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, यह तो समूह के व्यक्तियों के बीच संबंधों की व्यवस्था है। रयूटर ने लिखा है कि जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है बल्कि जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है बल्कि संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया है। स्पष्ट है कि समाज एक अमूर्त धारणा है।

3. समाज में समानता एवं असमानता (Likeness and differences in society)– समाज में समानता एवं असमानता दोनों ही देखने को मिलती हैं। ये दोनों ही समाज के लिए आवश्यक तत्व है। दोनों का अपना–अपना महत्व है और ये एक दूसरे के पूरक हैं। किसी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें पूर्णतः समानता या पूर्णतः असमानता हो। प्रत्येक समाज में ये दोनों ही बातें अनिवार्यतः पायी जाती हैं। यहां हम इन पर पृथक पृथक रूप से विचार करेंगे :

(1) समाज में समानता– जब तक लोगों में किसी न किसी रुप में समानता की भावना नहीं होगी, तब तक उनका एक दूसरे से संबंधित होने या इकट्ठा रहने का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी स्थिति में समाज का निर्माण नहीं हो सकता। जो लोग कुछ मात्रा में शरीर और मस्तिष्क की दृष्टि से समान हैं तथा एक–दूसरे के निकट हैं, उन्हीं में समाज पाया जाता है। गिडिंग्स ने 'समानता (सजातीयता) की चेतना' को समाज का आधार माना है। आदिम या प्रारंभिक, छोटे व सरल समाजों में समानता का आधार नातेदारी या रक्त संबंध था। अब यह आधार काफी विस्तृत हो गया है। अब राष्ट्रीयता समानता का एक मुख्य आधार है।

(2) समाज में असमानता– समाज में समानता के साथ–साथ भिन्नता भी पायी जाती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार यदि सभी लोग पूर्णतः समान होते तो उनके सामाजिक संबंध चींटियों या मधुमक्खियों के जैसे काफी सीमित होते। ऐसी दशा में उनमें आपसी लेन देन या पारस्परिक आदान प्रदान बहुत कम होता। वे एक दूसरे को बहुत कम सहायता दे पाते। लिंग भेद असमानता का एक उदाहरण है और इसी भेद के कारण प्रजनन या संतानोत्पत्ति संभव हो पायी। समाज में असमानताओं के पाए जाने के कारण ही प्रत्येक एक दूसरे से कुछ न कुछ लेता और बदले में कुछ देता है। यह बात परिवार, मित्र–मंडली, समूह, समिति, समुदाय सभी में पायी जाती है। सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों में असमानता की महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। समाज में कई प्रकार के विभेद या असमानताएँ पायी जाती है,

जैसे लिंग–भेद, शारीरिक बनावट संबंधी भेद, स्वभाव या प्रकृति संबंधी भेद, रुचि, योग्यता या क्षमता संबंधी भेद। वर्तमान में असमानताओं के बढ़ने का एक प्रमुख कारण विशेषीकरण की प्रक्रिया है।

(3) समाज में असमानता समानता के अधीन है (Difference Subordinate to Like ness in society) – समाज में श्रम–विभाजन पहले सहयोग (Co-operation) है और फिर विभाजन। इसका तात्पर्य यही है कि समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोग एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं, परंतु उद्देश्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए वे आपस में कार्यों को बांट लेते हैं। समान आवश्यकताओं के कारण ही असमान कार्यों को पूरा करने के लिए लोग इकट्ठे होकर एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। उदाहरण के रूप में, कुछ व्यापारी लाभ कमाने के उद्देश्य से साझेदारी के संबंधों में बँध जाते हैं और मिलकर व्यापार करते हैं। वे साझेदार उद्देश्य की सफलता के लिए व्यापार से संबंधित विभिन्न कार्य अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार आपस में बाँट लेते हैं। यही बात परिवार के क्षेत्र में देखने को मिलती है। स्नेह तथा घर की सामान्य इच्छा ही परिवार की स्थापना का प्रमुख आधार है, लेकिन यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि यद्यपि समाज में समानता और असमानता दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, परंतु समानता प्राथमिक या प्रमुख है और असमानता द्वितीयक या गौण।

4. समाज में सहयोग एवं संघर्ष (Cooperation and conflict in society)– समाज में दो प्रकार की शक्तियाँ देखने को मिलती है : प्रथम, वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधती है, और द्वितीय, वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक करती हैं। सहयोग प्रथम और संघर्ष द्वितीय के अंतर्गत आता है। ये दोनों तत्व या विशेषताएँ समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। प्रत्येक समाज में सहयोग और संघर्ष सार्वभौमिक प्रक्रियाओं के रूप में पाए जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सरल या आदम समाज से लेकर आधुनिक जटिल समाज तक में सहयोग और संघर्ष चलता रहता है। मनुष्यों और समूहों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है, लेकिन जहाँ वे सहयोग से ऐसा नहीं कर पाते, वहां संघर्ष का सहारा भी लेते हैं।

(1) सहयोग (Co-operation)– प्रत्येक कार्य या उद्देश्य की सफलता का आधार सहयोग ही है। पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि क्षेत्रों में हर समय सहयोग देखने को मिलता है। सहयोग के अभाव में न कोई परिवार अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और न ही कोई राजनीतिक दल। चुनावों में कई राजनीतिक दलों की हार का एक प्रमुख कारण उनके सदस्यों में सहयोग का अभाव है। किसी भी कार्य में सफलता सहयोग पर ही निर्भर करती है। सरल, छोटे एवं आदिम समाजों में प्रत्यक्ष सहयोग और आधुनिक जटिल और वृहद् समाजों में अप्रत्यक्ष सहयोग की प्रधानता पायी जाती है।

(2) संघर्ष (Conflict)– समाज में सहयोग के साथ–साथ संघर्ष भी देखने को मिलता है। संघर्ष का प्रमुख कारण कुछ शारीरिक या वैयक्तिक भिन्नताएँ, सांस्कृतिक भिन्नताएँ, विरोधी स्वार्थ या स्वार्थों का टकराना एवं तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन हैं। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच रुचि, स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, रहन–सहन, वेष–भूषा, आचार–विचार संबंधी भेद पाए जाते हैं। इसी प्रकार लोग अलग अलग धर्मों, संप्रदायों या मत–मतान्तरों से संबंधित होते हैं। एक समाज और दूसरे समाज की संस्कृति में भी अंतर पाया जाता है। साथ ही लोगों या समूहों के एक दूसरे के विपरीत स्वार्थ भी होते हैं, अर्थात कई बार उनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। सामाजिक परिवर्तन की तेज गति के कारण व्यक्ति और समूह कई बार बदलती हुई नवीन परिस्थितियों के साथ समायोजन या अनुकूलन नहीं कर पाते। ये विभिन्न प्रकार की भिन्नताएँ, स्वार्थ एवं सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। मानव समाज में सहयोग के समान संघर्ष भी मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने को मिलता है।

प्रत्येक समाज में सहयोग के समान संघर्ष भी सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में सदैव पाया जाता रहा है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ समाज है, वहां संघर्ष भी है। संघर्ष कई बार अन्याय, अत्याचार या शोषण को समाप्त करने में मदद करता है, लेकिन समाज में संघर्ष के बजाय सहयोग का महत्व अधिक है। आज तक का इतिहास बताता है कि मानव ने जितना समय संघर्ष में बिताया, उससे कहीं अधिक समय सहयोग एवं शांति में बिताया है। हम कह सकते हैं कि संघर्ष सहयोग के अधीन है। विभिन्न मनुष्यों एवं समूहों में साधारणतः सहयोग अधिक एवं संघर्ष कम पाया जाता है, परंतु ये दोनों प्रत्येक समाज में मौजूद अवश्य रहते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि समाज संघर्ष से कटा हुआ सहयोग है। जिस समाज में संघर्ष के बजाय सहयोग जितना अधिक मात्रा में पाया जाता है, वह समाज उतना ही अधिक संगठित होता है।

5. समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित (Society based upon interdependence)– अन्योन्याश्रितता समाज की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्योन्याश्रितता समाज की उत्पत्ति एवं विकास में एक आधारभूत तत्व है। वास्तव में यह मानव जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उन्नति का प्रमुख आधार है। समाज सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है और विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंध एक दूसरे पर निर्भर हैं। मनुष्य को अपनी प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करना और उन पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिम से आदिम और छोटे एवं सरल से सरल प्रकार के समाजों में भी व्यक्ति को ''यौन संतुष्टि, शिकार एवं जीवन–रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ा है। आधुनिक जटिल समाजों में तो श्रम विभाजन के बढ़ने

से मनुष्यों और साथ ही समाज के विभिन्न अंगों की एक दूसरे पर निर्भरता और भी बढ़ गयी है। समाज के प्रारंभिक रूप अर्थात् परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारंपरिक निर्भरता स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। आज तो जीवन के सभी क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता या अन्योन्याश्रितता पायी जाती है। इसका प्रमुख कारण मनुष्य का अपने में अपूर्ण होना या उसकी शक्ति का सीमित होना है। वह स्वयं केवल अपने तक ही सीमित रहकर अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता है। अतः कहा जा सकता है कि समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित है।

6. समाज सदैव परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था है (Society is ever changing and complex system) – समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता इसकी सदैव परिवर्तन प्रवृत्ति है। सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। विभिन्न कारणों से सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आता रहता है, व्यक्तियों की प्रस्थितियां एवं भूमिकाएँ बदलती रहती हैं, पारस्परिक अपेक्षाओं में भी समय के साथ साथ बदलाव आता रहता है। इन सबके परिणामस्वरूप समाज बदलता है, समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आता है। कोई भी समाज आज ठीक वैसा समाज नहीं है जैसा वह एक वर्ष पहले था या एक हजार वर्ष पश्चात् होगा। भारत का वैदिककालीन समाज आधुनिक समय के जटिल औद्योगिक समाज से काफी भिन्न था। स्पष्ट है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है।

साथ ही समाज एक जटिल व्यवस्था है जो अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों से निर्मित है। एक ही व्यक्ति सैंकड़ों व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है। संबंधों के आधार पर ही उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। साथ ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है। जब एक व्यक्ति अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों में बँधा होता है और निश्चित तरीके से एक–दूसरे के साथ संबंधों एवं अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है तो लाखों–करोड़ों व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों, उनकी प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं पर पारस्परिक अपेक्षाओं के आधार पर निर्मित होने वाली व्यवस्था, निश्चित रूप से जटिल होगी, इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है।

7. समाज मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है (Society is not confined to Human only) – समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित न होकर पशुओं में भी पाए जाते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने ठीक ही कहा है कि 'जहाँ कहीं जीवन है, वहीं समाज है।'' इसका तात्पर्य यह है कि सभी जीवधारियों के अपने अपने समाज होते हैं। चींटियों तथा मधुमक्खियों के भी समाज होते हैं। इनमें एवं अनेक अन्य पशु–पक्षियों में सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताएं देखने को मिलती है। इतना अवश्य है कि जीवन के निम्नतम स्तर वाले जीवधारियों में सामाजिक जागरूकता बहुत ही कम और सामाजिक संपर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। जहां सामाजिक या पारस्परिक जागरूकता का अभाव है, वहां समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उच्च स्तर के पशुओं– जैसे हाथी, गाय तथा नर वानरों के निश्चित समाज होते हैं। इनके जीवन में पारस्परिकता और सहयोग के तत्व पाए जाते हैं। अपनी प्रकृति या स्वभाव संबंधी आवश्यकताओं, जीवन रक्षा तथा अपनी जाति को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाए रखने की इच्छा के कारण पशु–पक्षियों में समाज की उत्पत्ति एवं विकास होता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत हम पशु समाज का अध्ययन न करके मानव समाज का अध्ययन करते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य पशुओं की तुलना में मानव विकास के उच्चतम स्तर पर है और वही अपनी योग्यता, क्षमता, गुणों एवं शारीरिक विशेषताओं के कारण संस्कृति का निर्माता है। उसने ज्ञान–विज्ञान और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की है। उसका अपना समाज, सामाजिक संगठन और सामाजिक व्यवस्था है। अतः हम मानव समाज के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

'समाज' तथा 'एक समाज' में अंतर

Distinction betwen 'society' and 'a society'

समाजशास्त्र में 'समाज' और 'एक समाज' का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया गया है। अन्य सामाजिक विज्ञानों में समाज का अर्थ व्यक्तियों के समूह के लिए जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था या सामाजिक संबंधों के जाल के लिए किया गया है। जहाँ अन्य सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के समूह को समाज मानते हैं, वहाँ समाजशास्त्र व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं मानकर 'एक समाज' मानता है।

'एक समाज' का अर्थ ऐसे व्यक्तियों के एक समूह से है जो सामान्य जीवन में भागीदार हो, उदाहरण के रूप में, भारतीय समाज, ईसाई समाज, मुस्लिम समाज, पाश्चात्य समाज, आदि। कहीं–कहीं 'एक समाज' शब्द का प्रयोग समिति के लिए भी किया गया है, जैसे वैश्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, आदि। 'एक समाज' शब्द से समान जीवन विधि या संस्कृति का बोध भी होता है। जो लोग व्यक्तियों के एक समूह के रूप में 'एक समाज' के अंतर्गत आते हैं, वे सामान्यतः एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं और उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अन्य 'एक समाज' के अंतर्गत आने वाले लोगों की संस्कृति से भिन्न होती है। 'एक समाज' के सदस्यों में समानता या सजातीयता की चेतना पायी जाती है। कुछ लोगों ने 'एक समाज' को समुदाय का ही परिवर्तित रूप माना है।

'एक समाज' का अर्थ स्पष्ट करते हुए रयूटर ने लिखा है, 'एक समाज, समाज से बिल्कुल भिन्न, एक संगठन है जिसकी सहायता से लोग अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं।'' मैन्जर के अनुसार, 'एक समाज मनुष्यों का एक ऐसा समूह समझा जा सकता है जिसके सदस्य सामान्य कार्यों या गतिविधियों में चेतन रूप में भाग लेते हों। मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार, 'एक समाज व्यक्तियों का वह संग्रह या समूह है जो किन्हीं संबंधों या व्यवहार

के तरीकों द्वारा संगठित है जो उन्हें उन दूसरों (व्यक्तियों) से पृथक करते हैं जो उन संबंधों में बँधे हुए नहीं हैं या जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं।'' ग्रीन के अनुसार, ''एक समाज वह सबसे बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य होता है। एक समाज एक जनसंख्या संगठन, समय, स्थान एवं अभिरुचि से बना होता है।''

एक समाज की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि 'एक समाज' में निम्न बातें पायी जाती हैं: (1) यह व्यक्तियों का एक समूह है, (2) इसके सदस्य सामान्य क्रिया–कलापों या गतिविधियों में चेतन रूप से भाग लेते हैं तथा (3) यह सामाजिक संबंधों, व्यवहार, जीवन–विधि या संस्कृति की दृष्टि से अन्य 'एक समाज' के अंतर्गत आने वाले समूहों से भिन्न है। स्पष्ट है कि जहाँ 'समाज' एक अमूर्त अवधारणा है, वहीं 'एक समाज' एक मूर्त अवधारणा है। 'समाज' सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है जबकि 'एक समाज' सामान्य जीवन में चेतन रूप से भाग लेने वाले व्यक्तियों का एक समूह है।

समाज और एक समाज में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं–

1. समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है, जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह है।

2. सामाजिक संबंधों के अमूर्त होने के कारण इनसे निर्मित व्यवस्था अर्थात् समाज भी अमूर्त है। एक समाज मूर्त है क्योंकि यह व्यक्तियों का एक समूह है जिसे देखा जा सकता है।

3. समाज एक जटिल व्यवस्था है, जबकि एक समाज अपेक्षाकृत एक सरल संगठन है।

4. समाज का अपना कोई भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता, जबकि एक समाज का साधारणतः एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है।

5. समाज में व्यक्ति का उत्तरदायित्व असीमित होता है, जबकि एक समाज में सीमित होता है।

6. समाज में विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है, जबकि एक समाज में इनमें काफी समानता पायी जाती है।

7. 'एक समाज' का आकार काफी छोटा है, जबकि समाज का आकार व्यापक होता है।

समाजशास्त्र सामान्यतः समाज विशेष या 'एक समाज' का अध्ययन न करके 'समाज' का अध्ययन करता है जो कि सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है। समाज की प्रतिकृति को समाजशास्त्र के माध्यम से भली भांति समझ कर ही व्यक्ति के जीवन को उन्नत करने और सामाजिक जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

समाज के प्रकार (Types of society)

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है और समाज को हम उस समय तक पूरी तरह से नहीं समझ सकते जब तक कि उसके प्रकारों के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं कर ली जाती है। यहाँ हम समाजों के कुछ प्रकारों पर विचार करेंगे :

परंपरागत एवं मुक्त समाज (Traditional and Open society)

परंपरागत समाज– साधारणतः परंपरागत समाज में परंपराओं एवं प्रथाओं का विशेष महत्व होता है। परंपरागत समाज में धर्म का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काफी प्रभाव पाया जाता है। व्यक्तियों के विश्वासों, दृष्टिकोणों एवं व्यवहार में धार्मिक या आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता देखने को मिलती है। ऐसे समाज में विज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया जाता। व्यक्तियों की प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण अधिकतर परंपराओं के आधार पर और कहीं कहीं जन्म के आधार पर होता है। व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने या सामाजिक नियंत्रण को बनाए रखने में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, रूढ़ि एवं जनमत का विशेष महत्व होता है। ऐसा समाज प्रौद्योगिकीय दृष्टि से विकसित नहीं होता है और इसी कारण यहाँ श्रम–विभाजन व विशेषीकरण भी नहीं के बराबर होता है। ऐसे समाज में भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता का काफी प्रभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप यहां स्त्रियों की स्थिति निम्न होती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि परंपरागत समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, जनमत, जन्म, भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता का विशेष महत्व देखने को मिलता है तथा परिणामस्वरूप जिनमें सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की गति सापेक्ष रूप से काफी धीमी होती है।

मुक्त समाज– मुक्त समाज का तात्पर्य 'खुला समाज' से है। साधारणतः इस प्रकार के समाज में परंपरागत समाज से कुछ भिन्न प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे समाज में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, आदि का महत्व बिल्कुल नहीं पाया जाता। इतना अवश्य है कि मुक्त समाज में परंपरागत समाज की तुलना में इन सबका महत्व काफी कम होता है। मुक्त समाज रूढ़िवादी समाज नहीं होकर प्रगतिशील और सापेक्ष रूप से अधिक परिवर्तनशील समाज होता है। ऐसे समाज में सामाजिक स्तरीकरण का आधार जन्म, प्रथा, परंपरा, आदि नहीं होकर वैयक्तिक योग्यता या गुण होते हैं। यहाँ जाति–व्यवस्था के बजाय वर्ग–व्यवस्था का महत्व पाया जाता है। ऐसे समाज में जन्म, जाति, प्रजाति, आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण नहीं होकर शिक्षा, धन, गुण, योग्यता, व्यवसाय, आदि के आधार पर होता है। ऐसे समाज में सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों, कानून, पुलिस, प्रशासन, अदालत, आदि का अनौपचारिक साधनों, प्रथा, जनमत, रूढ़ि, धर्म नैतिकता की तुलना में अधिक महत्व पाया जाता है।

मुक्त समाज में विज्ञान का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। मुक्त समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धन, शिक्षा, वैयक्तिक गुण या योग्यता, आदि को विशेष महत्व दिया जाता है और जिनके आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। ऐसा समाज रूढ़िवादी नहीं होकर प्रगतिशील और परिवर्तनशील होता है जिसमें सामाजिक

गतिशीलता अधिक पायी जाती है और सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक दृष्टि से तीव्र होती है।

आदिम समाज और सभ्य समाज– सभ्यता के स्तर की दृष्टि से विचार करने पर मानव समाज को मुख्यतः दो प्रकार के समाजों में बाँटा जा सकता है। ये प्रकार हैं : 1. आदिम समाज, एवं 2. सभ्य समाज। आदिम समाज का अर्थ स्पष्ट करते हुए इवांस प्रिचार्ड ने लिखा है कि मानवशास्त्री 'आदिम समाज' शब्द का प्रयोग उन समाजों के लिए करते हैं जो जनसंख्या, क्षेत्र और सामाजिक संपर्कों की परिधि की दृष्टि से छोटे होते हैं और जिनकी अधिक प्रगतिशील समाजों की तुलना में सरल प्रौद्योगिकी तथा सरल प्रकार की अर्थव्यवस्था होती है और जिनमें सामाजिक कार्यों का कम विशेषीकरण पाया जाता है। रॉबर्ट रैडफील्ड ने आदिम समाज की परिभाषा में कुछ अन्य विशेषताओं को जोड़ दिया है, जैसे साहित्य, व्यवस्थित कला, विज्ञान एवं अध्यात्म विद्या का अभाव।

आदिम समाज के अंतर्गत प्रमुखतः वे जनजातीय समाज आते हैं जो पहाड़ी, पठारी या घने जंगली प्रदेशों में निवास करते हैं और जो आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं। ऐसे समाजों को सरल समाज भी कहा जाता है। भारत में अनेक जनजातियाँ जैसे टोडा, कमार, आदि आदिम समाज के ही उदाहरण हैं।

सभ्य समाज वे समाज हैं जो जनसंख्या, क्षेत्र और सामाजिक संपर्कों की परिधि की दृष्टि से काफी बड़े होते हैं और जिनकी प्रौद्योगिकी तथा अर्थव्यवस्था काफी विकसित प्रकार की होती है और जिनमें सामाजिक कार्यों का काफी विशेषीकरण पाया जाता है। इनमें साहित्य, कला एवं विज्ञान का विशेष महत्व होता है। इनमें शिक्षा का व्यापक प्रसार तथा विकसित प्रकार का राजनीतिक संगठन देखने को मिलता है। द्वितीयक संबंधों एवं समूहों की, सभ्य समाज में प्रधानता पायी जाती है। परिवार, नातेदारी, धर्म, परंपरा एवं रूढ़ि का ऐसे समाज में सापेक्ष दृष्टि से कम महत्व पाया जाता है। ऐसे समाज में सामाजिक विभेदीकरण अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। ऐसे समाज को जटिल समाज भी कहा जाता है। वर्तमान भारत का समाज और पाश्चात्य समाज सभ्य समाज के ही उदाहरण हैं।

सरल समाज तथा जटिल समाज (Simple and complex society)

सरल तथा जटिल सापेक्ष शब्द है। एक समाज किसी अन्य समाज की तुलना में सरल समाज हो सकता है और वहीं दूसरा समाज किसी तीसरे समाज की तुलना में जटिल हो सकता है। इसके बावजूद भी इन दोनों प्रकार के समाजों में कुछ मौलिक भेद हैं जिन्हें स्पष्टतः समझ लिया जाना चाहिए। सरल समाज का अर्थ उस समाज से है जिसकी संरचना तथा प्रकार्य सरल है या सरलता लिए हुए है। इसके विपरीत जटिल समाज वह समाज है जिसकी संरचना तथा प्रकार्य जटिल है या जटिलता लिए हुए है। विभेदीकरण की मात्रा के आधार पर सरलता एवं जटिलता के अर्थ को स्पष्टतः समझा जा सकता है। विभेदीकरण का तात्पर्य अनेकता या विभिन्नता से है। जिस समाज की संरचना और प्रकार्य जितने कम विभेदीकृत है विभिन्नताएं जितनी कम हैं वह समाज उतना ही सरल होगा। इसके विपरीत, जिस समाज की संरचना और प्रकार्य जितने अधिक विभेदीकृत हैं या जितनी अधिक विभिन्नताएँ लिए हुए हैं वह समाज उतना ही जटिल होगा। आदिम जनजातीय समाज सरल समाज के और आधुनिक सभ्य समाज जटिल समाज के उदाहरण हैं।

कार्ल मार्क्स का वर्गीकरण– आर्थिक व्यवस्था को एक निर्णायक संस्था मानकर कार्ल मार्क्स ने अपना प्रसिद्ध वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है, ''व्यापक रूप से हम एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी तथा आधुनिक उत्पादन के तरीकों को समाज के आर्थिक निर्माण की प्रगति में कई अवस्थाएँ (युग) मान सकते हैं।'' अन्य स्थान पर आपने तथा एन्जिल्स ने आदिम साम्यवादी, प्राचीन समाज, सामंतवादी समाज और पूंजीवाद को मानव इतिहास का प्रमुख युग कहा है। बाटोमोर ने बताया है कि यदि हम इन दोनों योजनाओं को मिला दें तो हमें समाजों के पाँच मुख्य प्रकार मिलते हैं। आदिम, एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी तथा पूंजीवादी।

1. आदिम समाज (Primitive society)– इसे आदिम साम्यवादी समाज भी कहा गया है। ऐसे समाज में उत्पादन के साधनों पर पूरे समुदाय का समान अधिकार होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष या कुछ व्यक्तियों का। उत्पादन प्रणाली आदिम प्रकार की होती है। लोग तीर–कमान एवं पत्थर के कुछ औजारों की सहायता से थोड़ा बहुत उत्पादन एवं पशुओं का शिकार कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संयुक्त श्रम के आधार पर जो कुछ उत्पादन होता है, उसे सब लोग आपस में बांट लेते हैं। ऐसे समाज में न तो वर्ग–भेद और न ही शोषण पाया जाता है।

2. एशियाई समाज (Asiatic society)– मार्क्स ने भारत को एशियाई समाज का एक उदाहरण माना है। आपने एशियाई समाज की परिभाषा करते हुए कहा था कि यह एक ऐसा समाज है जिसकी कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था उत्पादन की छोटी इकाइयों पर आधारित है। साथ ही जिसमें केन्द्रित राज्य और नौकरशाही है जिसकी शक्ति जल पूर्ति नियमन पर निर्भर करती है। ऐसे समाजों में कृषि उत्पादन छोटी छोटी इकाइयों के द्वारा किया जाता है और राज्य तथा नौकरशाही जनपूर्ति से संबंधित प्रमुख कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

3. प्राचीन समाज (Ancient Society) – ऐसे समाज की प्रमुख विशेषता परंपराओं का विशेष बोलबाला है। व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण परंपराओं द्वारा ही होता है। ऐसे समाजों में उत्पादन की प्रणाली अधिक विकसित नहीं होती। लोग पशु–पालन एवं खेती का कार्य साधारणतः कम विकसित औजारों की सहायता से करते हैं। ऐसे समाज में निजी संपत्ति की धारणा के होने से संपत्ति का असमान वितरण पाया जाता है। परिणामस्वरूप आर्थिक आधार पर बने वर्ग देखने को मिलते हैं।

कहीं कहीं एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण और कभी कभी वर्ग संघर्ष भी देखने को मिलता है।

4. सामंतवादी समाज (Feudal society)– ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के यूरोपीय समाज और जापान, सामंतवादी समाज के ही विभिन्न उप–प्रकारों के अंतर्गत आते हैं। ऐसे समाजों में भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर साधारण किसानों का अधिकार नहीं होकर कुछ सामंतों या जमींदारों का अधिकार होता है। ये लोग अर्द्ध–दास किसानों से खेती एवं उत्पादन का कार्य कराते थे। निजी संपत्ति की विकसित धारणा के कारण इस प्रकार के समाजों में संपत्ति का असमान वितरण देखने को मिलता था। ऐसे समाजों में सामंतों द्वारा किसानों का शोषण किया जाता और वर्ग–भेद व वर्ग–संघर्ष पाया जाता था। इनमें राजनीतिक शक्ति भी कुछ व्यक्तियों में सीमित होती थी।

5. पूंजीवादी समाज (Capitalist society)– पूंजीवादी समाजों की स्थापना में मशीनों के आविष्कार एवं बड़े उद्योग–धंधों का विशेष योग है। मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। उत्पादन के साधनों पर कुछ पूंजीपतियों का अधिकार हो गया। उत्पादन कार्य वेतनभोगी मजदूरों की सहायता से किया जाने लगा। पूंजीपतियों का मुनाफा बढ़ता गया और वे अधिकाधिक धनी होते गए। दूसरी ओर श्रमिक अपने श्रम को बेचकर मुश्किल से इतना ही कमा पाते थे जिससे उनकी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। श्रमिकों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण बढ़ता गया। परिणामस्वरूप वर्ग–भेद और वर्ग–संघर्ष बढ़ने लगे।

उपर्युक्त पाँच प्रकारों के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स ने समाज का एक अन्य प्रकार– समाजवादी समाज बताया है। रूस और चीन इस प्रकार के समाज का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाजवादी समाज के बीज छिपे हुए हैं। गरीब–अमीर के भेद के बढ़ने और तीव्र वर्ग–चेतना के जागृत होने पर वर्ग–संघर्ष होगा जिसमें पूंजीपति वर्ग को समाप्त कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना की जाएगी। ऐसे समाज में निजी संपति का कोई स्थान नहीं है। उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होकर सारे समाज का अधिकार होता है। ऐसे समाज में उत्पादन लाभ के लिए नहीं बल्कि उपभोग के लिए किया जाता है। सभी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करते हैं। ऐसे समाज में धर्म, आध्यात्मिक शक्ति या परमात्मा का कोई स्थान नहीं होता।

टॉनीज का वर्गीकरण (Tonnies' classification) – टॉनीज ने सामाजिक संबंधों की प्रकृति के आधार पर समाजों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है–

1. गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft); तथा
2. गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft)

प्रथम श्रेणी में टॉनीज ने औद्योगीकरण के पूर्व के समाजों को सम्मिलित किया है, जबकि दूसरी श्रेणी में औद्योगीकृत समाजों को। गेमाइनशाफ्ट (बद्ध समाज) में टॉनीज के अनुसार, उच्च कोटि की सामाजिक एकता तथा समुदाय व समाज के प्रति उच्च कोटि की प्रतिबद्धता पाई जाती है। सदस्यों में अपने समाज के मूल्यों और मानकों के बारे में पूर्ण मतैक्य (एक मत) रहता है। इसमें सामाजिक संबंध स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं, स्वेच्छा से या सोच–विचाकर स्थापित नहीं किए जाते। इसके विपरीत, गेसेलशाफ्ट (संघ समाज) में सामाजिक संबंध कृत्रिम रूप से स्थापित किए जाते हैं अर्थात् व्यक्ति परस्पर लाभ की संभावना और विनिमय की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक संबंधों का निर्माण करते हैं और यही संबंध उन्हें एक दूसरे से बांधकर रखते हैं। इस वर्गीकरण में द्वैत वर्गीकरण के सभी दोष पाए जाते हैं। पहले तो यह अति सरल है तथा दूसरे औद्योगिक समाजों की बहुत सी विशेषताएँ पूर्व–औद्योगिक समाजों में तथा पूर्व–औद्योगिक समाजों की औद्योगिक समाजों में पाई जाती हैं।

समुदाय
(Community)

समुदाय समाजशास्त्रीय साहित्य में एक प्राथमिक अवधारणा है। सामान्य बोलचाल की भाषा में समुदाय शब्द का प्रयोग किसी जाति विशेष, धर्म विशेष या किसी समाज विशेष के लिए किया जाता है। परंतु समाज शास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भों में किया जाता है। समाजशास्त्र में किसी गाँव, कस्बे, नगर, राज्य, देश के संदर्भ में समुदाय शब्द का प्रयोग किया जाता है। समुदाय को एक क्षेत्रीय अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा
Meaning and Definition of community

शाब्दिक दृष्टि से समुदाय के अर्थ पर विचार करें तो हम पाते हैं कि अंग्रेजी का कम्युनिटी (समुदाय) शब्द दो लेटिन शब्दों– Com तथा Munis से बना है। Com शब्द का अर्थ together अर्थात् एक साथ और Munis का अर्थ serving अर्थात 'सेवा करना' है। इन शब्दों के आधार पर समुदाय का तात्पर्य 'साथ–साथ मिलकर सेवा करने से है। अन्य शब्दों में, समुदाय का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो निश्चित भू–भाग पर साथ–साथ रहते हैं और वे किसी एक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि सामान्य–उद्देश्यों के लिए इकट्ठे रहते हैं, उनका संपूर्ण जीवन सामान्यतः यहीं व्यतीत होता है।

समुदाय को परिभाषित करते हुए प्रो. डेविस लिखते हैं, ''समुदाय सबसे छोटा ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।'' इस परिभाषा में समुदाय के तीन तत्वों का उल्लेख किया गया है– 1. व्यक्तियों का समूह, 2. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, 3. सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समावेश।

बोगार्डस के अनुसार, 'एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों में 'हम की भावना' पायी जाती है तथा

जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है।''

लुंडबर्ग तथा अन्य ने समुदाय को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''एक मानव जनसंख्या जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है और जो सामान्य एवं अन्योन्याश्रित जीवन व्यतीत करती है।''

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, ''जब किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य साथ–साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष हित में ही भागीदार नहीं होकर सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं या परिस्थितियों में भाग लेते हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।'' इन्हीं विद्वानों ने अन्यत्र लिखा है, 'समुदाय सामाजिक जीवन का ऐसा क्षेत्र है जिसमें सामाजिक सम्बद्धता कुछ मात्रा में पायी जाती है।'' स्पष्ट है कि आपने समुदाय को एक ऐसा क्षेत्रीय समूह माना जो एक सामान्य जीवन जीता है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, ''एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समुदाय सामान्य सामाजिक जीवन में भागीदार लोगों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है और जिसमें हम की भावना या सामुदायिक भावना पायी जाती है।

समुदाय के आवश्यक तत्व (Essential elements of Community)

किसी भी समूह के समुदाय कहलाने अथवा समुदाय के निर्माण के लिए तीन तत्वों का होना प्रमुखतः आवश्यक माना गया है जो इस प्रकार है : प्रथम, व्यक्तियों का समूह, द्वितीय, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, तृतीय, सामुदायिक भावना।

1. व्यक्तियों का समूह (Group of individuals) – किसी भी समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह प्रथम आवश्यकता है। व्यक्तियों के बिना न तो सामान्य सामाजिक जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही सामुदायिक भावना की। अतः व्यक्तियों का समूह समुदाय के निर्माण के लिए प्रथम प्रमुख तत्व है।

2. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र (Definite geographical area)– प्रत्येक समुदाय के लिए एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। जब तक कोई समूह निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास नहीं करता है, तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। किसी भी गाँव, नगर या राष्ट्र को इसीलिए समुदाय कहा जाता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना अपना निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। एक क्षेत्र विशेष में लंबे समय तक साथ साथ रहने और जीवन की सामान्य गतिविधियों में भाग लेने से लोगों में अपनत्व की भावना पनपती है। वे इस समूह विशेष को अपना समूह समझते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक दूसरे के निकट रहने के कारण ही लोगों में अन्तर्क्रिया की मात्रा बढ़ती है जो सामाजिक संबंधों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक है।

3. सामुदायिक भावना (Community sentiments) – इसे 'हम की भावना' के नाम से पुकारते हैं। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह तथा निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अलावा सामुदायिक भावना का होना भी अत्यंत आवश्यक है। सामुदायिक भावना का तात्पर्य 'हम सब एक हैं', 'यह समुदाय हमारा है', 'यह अन्य समुदायों से भिन्न है', 'इसके सुख–दुख में हम सभी समान रूप से भागीदार हैं', 'हम सब दृढ़ता के सूत्र में बँधे हुए हैं', आदि से है। सामान्यतः प्रत्येक समुदाय अन्य समुदायों के संदर्भ में एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है। जब तक किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों में यह सामुदायिक भावना नहीं पनपती तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जब कुछ लोग लंबे समय से इकट्ठे साथ–साथ रहते हैं, साथ–साथ कार्य करते हैं, एक दूसरे के सुख–दुख में भाग लेते हैं, सामूहिक हितों के प्रति जागरूक रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं तो उनमें 'हम की भावना या सामुदायिक भावना' का पनपना स्वाभाविक ही है।

सामुदायिक भावना के अंतर्गत प्रमुखतः तीन बातें पायी जाती हैं–

1. हम की भावना की अभिव्यक्ति (Expression of we-feeling) – हम की भावना व्यक्तियों को सुख–दुख में साथ देने और मिलकर काम करने को प्रोत्साहित करती है। स्थान या क्षेत्र विशेष के साथ लोगों का विशेष लगाव पाया जाता है। वे अपने समुदाय के लोगों को अपना समझते हैं। उनमें भाई–चारे के संबंध पाए जाते हैं। हम सब एक हैं, हमारे सबके हित समान हैं और सब एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं इस प्रकार की बलवती भावना समुदाय के सदस्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है।

2. योगदान या दायित्व निर्वाह की भावना (Contribution or sentiments of role playing) – सामुदायिक भावना का एक अन्य तत्व सदस्यों में समुदाय के कार्यों में सम्मिलित होने और योग देने की भावना से है। समुदाय से संबंधित अनेक ऐसे सामूहिक कार्य होते हैं जिन्हें पूरे समुदाय के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं किया जा सकता है। अतः विभिन्न सदस्य अपनी अपनी प्रस्थितियों के अनुसार भूमिका निभाते हुए समुदाय के कार्यों में योग देते हैं और अन्य सदस्यों की सहायता करना अपना दायित्व समझते हैं।

3. निर्भरता की भावना (Feeling of dependency) – सामुदायिक भावना के अंतर्गत निर्भरता की भावना एक आवश्यक तत्व है। व्यक्ति अपने को एक–दूसरे पर और संपूर्ण समुदाय पर निर्भर समझते हैं। उन्हें अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। पारस्परिक रूप से निर्भर रहने की भावना सामुदायिक भावना को बढ़ाने में योग देती है।

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, श्रम–विभाजन, विशेषीकरण, नगरीकरण, यातायात और संचार के साधनों के विकास, भौगोलिक दूरी में कमी, एक ही विश्व दृष्टिकोण, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं जनसंख्या में विविधता, व्यक्तिगत स्वार्थ का बढ़ना तथा द्वैतीयक संबंधों की प्रधानता, आदि कारणों से सामुदायिक भावना

में कमी आती जा रही है और ऐसा विशेषतः नगरीय समुदायों में देखने को मिलता है।

समुदाय की कुछ विशेषताएँ (लक्षण)
Few characteristics of community

उपर्युक्त तीन आधारों के अलावा समुदाय की निम्नलिखित कुछ प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण इस प्रकार हैं :

1. स्वतः विकास (Spontaneous growth) – समुदाय का निर्माण कुछ लोगों के द्वारा जान बूझकर या नियोजित प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जाता। इसका तो समय के बीतने के साथ–साथ स्वतः ही विकास होता है। जब कुछ लोग किसी स्थान विशेष पर रहने लगते हैं तो धीरे–धीरे उनमें हम की भावना पनपती है और वे वहाँ रहने वाले सभी लोगों के समूह को अपना समूह समझने लगते हैं। इस प्रकार की भावना के विकसित होने पर वह समूह समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है।

2. स्थायीपन (Permanency) – इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समुदाय एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में स्थायी रूप से रहता है। किसी भी अस्थायी समूह जैसे भीड़, श्रोता–समूह या खानाबदोश झुंड को समुदाय नहीं माना जाता क्योंकि इनके साथ भौगोलिक क्षेत्र स्थायी रूप से जुड़ा हुआ नहीं होता। समुदाय एक ही स्थान पर स्थायी रूप से बना रहता है जब तक कि भूकंप, तूफान, बाढ़ या युद्ध के कारण वह पूरी तरह से नष्ट न हो जाए। हम स्पष्टतः यह जानते हैं कि कौन–सा समुदाय किसी भौगोलिक क्षेत्र में बसा हुआ है। इसका कारण समुदाय के साथ स्थायित्व के तत्व का जुड़ा होना है।

3. विशिष्ट नाम (Specific name)– प्रत्येक समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है जो उस समुदाय के लोगों में 'हम की भावना' जागृत करने और उसे बनाए रखने में योग देता है। प्रत्येक समुदाय के नाम के साथ एक विशिष्ट इतिहास जुड़ा हेता है जो उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में, दिल्ली एक ऐसा समुदाय है जिसके नाम के साथ एक लंबा इतिहास जुड़ा हुआ है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है।

4. मूर्तता (Concreteness)– समुदाय एक मूर्त समूह है। इसका कारण यह है कि एक निश्चित भू–भाग पर बसे मनुष्यों के समूह के रूप में हम इसे देख सकते हैं। यद्यपि समुदाय से संबंधित विभिन्न नियमों को तो नहीं देखा जा सकता, परंतु मनुष्यों के रूप में इसे अनुभव अवश्य किया जा सकता है।

5. व्यापक उद्देश्य (Extensive objectives) – समुदाय का विकास किसी एक या कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नहीं होता। यह तो व्यक्तियों के जीवन की विभिन्न गतिविधियों का केन्द्र स्थल है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ एवं संस्थाएँ समाहित होती हैं जो समुदाय के व्यापक लक्ष्यों की पूर्ति में योग देती हैं। समुदाय का उद्देश्य इस दृष्टि से भी व्यापक है कि यह किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष या वर्ग विशेष के हित या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य न करके सभी व्यक्तियों एवं समूहों के सभी प्रकार के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करता है।

6. सामान्य जीवन (Common life)– प्रत्येक समुदाय के कुछ सामान्य रीति–रिवाज, परंपराएँ, विश्वास, उत्सव एवं त्यौहार तथा संस्कार, आदि होते हैं जो उस समुदाय के लोगों के जीवन में एकरूपता उत्पन्न करने में योग देते हैं। समुदाय में ही व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आदि आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यहीं उसका संपूर्ण जीवन व्यतीत होता है। इस दृष्टि से समुदाय सामान्यताओं का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति इस या उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि अपना सारा जीवन बिताने के लिए रहता है। इस प्रकार समुदाय में सदस्यों का संपूर्ण जीवन सामान्य रूप से व्यतीत होता है।

7. सामान्य नियम व्यवस्था (Common rules system) – गिन्सबर्ग ने नियमों की सामान्य व्यवस्था को समुदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता माना है। सामान्य नियमों के माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित किया जाता है, उन पर नियंत्रण रखा जाता है। सामान्य नियमों से निर्देशित होने के कारण ही एक समुदाय विशेष के लोगों के व्यवहारों में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है। सामान्य नियम–व्यवस्था का प्रभाव छोटे समुदायों जैसे ग्राम समुदाय या जनजातीय समुदाय में विशेषतः पाया जाता है, जहाँ अनौपचारिक साधनों या अलिखित नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को निर्देशित और नियंत्रित किया जाता है।

8. आत्म निर्भरता (Self dependency)– समुदाय को एक आत्म–निर्भर समूह माना गया है जो अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे किसी अन्य समुदाय पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। समुदाय की यह विशेषता आदिम समुदायों, जनजातीय समुदायों या छोटे समुदायों में पायी जा सकती है, वर्तमान समय के बड़े समुदायों में नहीं। आज तो छोटे समुदायों, जैसे ग्रामों तक को अन्य ग्रामीण या नगरीय समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः किसी समय आत्म निर्भरता समुदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, परंतु अब इसका महत्व कम हो गया है। अब तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक समुदाय को कम या अधिक मात्रा में साधारणतः अन्य समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि आज भौतिक दृष्टि से तो समुदाय आत्म–निर्भर नहीं रहे हैं, परंतु सामाजिक दृष्टि से आत्म–निर्भर अवश्य हैं, क्योंकि सामाजिक जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलू समुदाय में आ जाते हैं।

9. अनिवार्य सदस्यता (Compulsory membership) – प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। वह किसी न किसी क्षेत्र विशेष में अन्य लोगों के निकट रहता है, उसके साथ अन्तःक्रिया करता है। उसे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी क्षेत्रीय–समूह अर्थात् समुदाय में रहना पड़ता है। एक क्षेत्र विशेष में लंबी अवधि तक अन्य लोगों के साथ रहने में उसमें अपने समुदाय के प्रति एक लगाव या अपनत्व का भाव पैदा हो जाता है। आज के युग में

भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता के बढ़ जाने से लोग एक भौगोलिक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं, एक समुदाय को छोड़कर किसी अन्य समुदाय में जाकर रहने लग जाते हैं, परंतु इतना अवश्य है कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है।

समुदाय के प्रकार (Types of Communities)

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समुदाय के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रो. किंग्सले डेविस ने बताया है कि समुदायों का वर्गीकरण करने के लिए चार अंतर–संबंधित तत्वों या कसौटियों को काम में लिया जा सकता है जो इस प्रकार है– 1. जनसंख्या का आकार, 2. समुदाय के चारों ओर के प्रदेश का विस्तार, संपत्ति एवं आबादी, 3. संपूर्ण समाज में समुदाय के विशेषीकृत कार्य, तथा 4. समुदाय के संगठन का प्रकार। इन तत्वों के आधार पर आदिम समुदायों के विभिन्न प्रकारों के बीच, आदिम और सभ्य समुदायों के बीच तथा ग्रामीण और नगरीय समुदायों के बीच अंतर को स्पष्ट करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

प्रो. डेविस ने प्रमुखतः आदिम जातियों और गांवों में अंतर स्पष्ट किया है। इसके अलावा आपने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों पर सविस्तार प्रकाश डाला है। अधिकांश मानव इन दो प्रकार के समुदायों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने ग्रामीण, नगरीय एवं क्षेत्रीय समुदायों का उल्लेख किया है। बोगार्डस ने चार प्रकार के समुदाय बताये हैं : ग्रामीण समुदाय, नगरीय समुदाय, क्षेत्रीय समुदाय (प्रांत, प्रदेश, आदि) तथा राष्ट्रीय समुदाय (राष्ट्र)। राबर्ट रेडफील्ड ने लघु समुदाय का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोगों ने लघु कृषक समुदाय के नाम से भी पुकारा है।

हम यहाँ समुदाय के कुछ प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करेंगे–

1. ग्रामीण समुदाय (Rural community) – ग्रामीण समुदाय मानव आवास का एक रूप है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं– लघु आकार, कम जनसंख्या, जीवन यापन के लिए लोगों की प्रकृति पर निर्भरता, कृषि मुख्य व्यवसाय, संबंधों की घनिष्ठता एवं आत्मीयता, प्रकृति से घनिष्ठ संबंध, निवासियों में सामाजिक–सांस्कृतिक समरूपता, सरल एवं सादा जीवन, सामाजिक गतिशीलता का अभाव, धर्म, प्रथा और रूढ़ियों का अधिक प्रभाव, परिवार का जीवन में अधिक महत्व होना एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन, सामुदायिक भावना की प्रगाढ़ता आदि।

भारत के सभी गांव ग्रामीण समुदाय के प्रमुख उदाहरण हैं।

1 नगरीय समुदाय (Urban community)– नगरीय समुदाय ग्रामीण समुदाय के विपरीत विशेषताओं वाले क्षेत्र होते हैं। नगरीय समुदायों की प्रमुख विशेषताएँ हैं– बड़ा आकार, जनसंख्या की बहुलता, जनसंख्या की विभिन्नता, व्यवसायों की बहुलता एवं विभिन्नता तथा कृषि के स्थान पर व्यवसायों के द्वारा ही लोगों द्वारा जीवन–यापन करना, घर एवं परिवार का महत्व ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा कम होना, छोटे परिवारों की बहुलता, द्वैतीयक संबंधों की प्रधानता, कृत्रिमता, व्यक्तिवाद को अधिक महत्व, गतिशीलता तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक–आर्थिक समस्याओं की प्रचुरता का होना, आदि। भारत के बड़े बड़े नगर इनके प्रमुख उदाहरण हैं।

2. लघु समुदाय (Little community)– राबर्ट रेडफील्ड ने लघु समुदाय की अवधारणा दी है। उनका मत है कि मानव समाज का लगभग तीन चौथाई भाग इसी प्रकार के समुदायों में निवास करता है। ये समुदाय मानव के स्थायी निवास बनाकर रहने के प्रारंभिक स्वरूप को दर्शाते हैं। रेडफील्ड ने लघु समुदाय की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है– 1. लघु समुदायों का आकार बहुत छोटा होता है, 2. लघु समुदाय विशिष्ट प्रकार की जीवन शैली को व्यक्त करते हैं जिसके आधार पर एक लघु समुदाय को दूसरे से भिन्न रूप में पहचान सकते हैं। 3. लघु समुदायों के लोगों के जीवन एवं संस्कृति में समरूपता पायी जाती है, तथा 4. लघु समुदाय आत्मनिर्भर होते हैं, उनमें जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

3. जनजातीय समुदाय (Tribal community)– सामान्यतः हम जनजाति समुदाय उसे कहते हैं जिनमें आदिवासी, आदिम जाति या जनजाति के लोग निवास करते हैं। एक जनजाति समुदाय में रहने वाले व्यक्ति सामान्यतः एक भाषा बोलते हैं, उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अपने समूह को दूसरे समूह से पृथक करती है, जनजाति समुदाय की अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वायत्तता होती है, यह एक प्रकार का बंद समाज होता है, इसमें सामाजिक समानता पायी जाती है तथा नातेदारी का महत्व अधिक होता है, इसमें धर्म एवं जादू को भी अधिक महत्व दिया जाता है, इसमें परिवार का अधिक महत्व पाया जाता है तथा गतिशीलता का अभाव एवं स्थिरता की प्रबलता पायी जाती है। दक्षिणी राजस्थान में अनेक गाँव ऐसे हैं, जहां कोई एक ही जनजाति या दो तीन जनजातियां ही एक समुदाय में रहती हैं। वे जनजातीय समुदाय के स्पष्ट लक्षणों को अभिव्यक्त करते हैं।

4. क्षेत्र (Region) – विद्वानों ने क्षेत्र या प्रदेश की व्याख्या उसकी प्रकृति के आधार पर की है। एक क्षेत्र में लक्षणों की समरूपता होती है और वह अपने लक्षणों के द्वारा दूसरे क्षेत्रों से भिन्न रूप में पहचाना जाता है। क्षेत्र या प्रदेश में भौतिक लक्षणों की ही समरूपता नहीं वरन् उसमें सांस्कृतिक लक्षण तथा आर्थिक व्यवसायों में भी समरूपता पायी जाती है। सारांश में एक क्षेत्र में 1. भौगोलिक तत्वों की समरूपता पायी जाती है, 2. उसकी एक विशिष्ट स्थिति होती है, 3. उसके लक्षण एक जैसे होते हैं, 4. उसमें समान विचार एवं समानुरूपता पायी जाती है। 5. ये परिवर्तनशील होते हैं तथा 6. इनकी व्याख्या एवं वर्गीकरण सिद्धांतों के आधार पर किया जा सकता है। भाषायी क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र एवं सांस्कृतिक क्षेत्र विभिन्न प्रकार

के क्षेत्रों के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त समुदायों के अतिरिक्त मैकाइवर ने कुछ ऐसे समुदायों का भी उल्लेख किया है जिनमें समुदाय की आंशिक विशेषताएँ पायी जाती हैं, इन्हें वह सीमावर्ती समुदाय कहता है। इनका उल्लेख पृथक् से करेंगे।

सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण (Some examples of Marginal communities)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्राम, जनजातीय समूह (जो एक क्षेत्र विशेष में बसा हो), कस्बा, नगर, राष्ट्र, आदि समुदाय के उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के प्रमुख आधार पर अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ समूह अथवा संगठन ऐसे हैं जिनके संबंध में यह भ्रम पाया जाता है कि वे समुदाय हैं अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पायी जाती हैं और कुछ नहीं। ऐसे समूह जिनके समुदाय होने के संबंध में कुछ भ्रम है, परंतु जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं, सीमावर्ती समुदायों के अंतर्गत आते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने सीमावर्ती समुदायों का उल्लेख किया है। सीमावर्ती समुदाय ऐसे समुदायों को कहा जाता है जिनमें कुछ विशेषताएँ तो समुदाय की होती हैं, साथ ही उनमें संस्था, समूह, या समिति की भी विशेषताएँ होती हैं। वे पूरी तरह से समुदायों के लक्षणों को प्रकट नहीं करते। उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएं जैसे सामान्य जीवन तथा सभी लोगों के सदस्य होने की स्वतंत्रता का गुण नहीं पाया जाता, अतः वे समुदाय न होकर सीमावर्ती समुदाय होते हैं। जाति, जेल, पड़ौस, परिवार, आदि सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। हम यहां सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरणों पर विचार करेंगे :

1. क्या जाति एक समुदाय है?– जाति में समुदाय की कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरण के रूप में, जाति भी व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसमें अपने सदस्यों के प्रति कुछ मात्रा में 'हम की भावना' या 'सामुदायिक भावना' भी पायी जाती है। प्रत्येक जाति का अपना एक विशिष्ट नाम भी होता है। जाति किसी विशिष्ट हित या उद्देश्य को लेकर नहीं बल्कि अपने सदस्यों के सामान्य हितों को लेकर कार्य करती है। इसके अलावा प्रत्येक जाति के अपने कुछ सामान्य नियम भी होते हैं जिनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। इन विशेषताओं के आधार पर कुछ लोग जाति को एक समुदाय मानते हैं, परंतु समुदाय के एक प्रमुख आधार– निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का जाति में पूर्णतः अभाव पाया जाता है। समुदाय के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना आवश्यक है, परंतु जाति का क्षेत्र विशेष के साथ संबंध नहीं होता। एक ही जाति के लोग विभिन्न क्षेत्रों में फैले होते हैं। इसके अलावा एक जाति अनेक उपजातियों में बँटी होती है और ऐसी स्थिति में सामुदायिक भावना जाति के लिए केन्द्रित न होकर उपजातियों में बंट जाती है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से जाति को समुदाय नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर भी जाति को एक समुदाय नहीं मानते।

2. क्या जेल एक समुदाय है– जेल व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र भी होता है, जेल में निवास करने वाले लोगों में कुछ मात्रा में सामुदायिक भावना भी पायी जाती है। इन आधारों पर मेकाइवर एवं पेज ने जेल को समुदाय माना है। आपने जेल को इस कारण भी समुदाय माना है कि इसका अपना एक कार्यक्षेत्र है यद्यपि अन्य समुदाय की तुलना में यह सीमित है। आपने बताया है कि कार्यक्षेत्र का सीमित होना समुदाय विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है।

परंतु कुछ समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज के जेल को एक समुदाय मानने के मत से पूर्णतः असहमत हैं। जेल में जब समुदाय की अनेक विशेषताएँ नहीं पायी जाती तो इसे समुदाय कैसे माना जा सकता है। इसे समुदाय नहीं मानने के निम्नलिखित कारण हैं :

1. जेल के कैदियों में हम की भावना, जेल के प्रति लगाव या अपनत्व या त्याग की भावना का अभाव पाया जाता है। 2. जेल में सभी सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते, सबका जीवन समान या एक सा नहीं होता। अपराध की प्रकृति और अपराधी की परिस्थिति को ध्यान में रखकर उसे जेल में एक विशेष श्रेणी में कैदी के रूप में रखा जाता है और प्रत्येक श्रेणी के कैदियों को अन्य श्रेणियों के कैदियों से भिन्न प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। ऐसी दशा में जेल के सामान्य जीवन का क्षेत्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 3. व्यक्ति के जीवन के सभी पक्ष जेल में अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यहां उसका कोई पारिवारिक जीवन नहीं हो सकता, वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ यहाँ नहीं रह सकता। जीवन के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति यहाँ संभव नहीं है। 4. जेल का स्वतः विकास नहीं होता। इसे तो जान–बूझकर एक विशिष्ट उद्देश्य– अपराधियों को सजा देने या उन्हें सुधारने हेतु निर्मित किया या बनाया जाता है। 5. जेल में समुदाय के समान स्थायित्व का भी अभाव पाया जाता है। सरकार इसे समाप्त भी कर सकती है, स्थान परिवर्तन भी कर सकती है। यहाँ हम यही कह सकते हैं कि जेल एक समुदाय न होकर समुदाय का एक अंग है, एक समिति है जिसे विशेष उद्देश्य को लेकर बनाया गया है।

3. क्या पड़ौस समुदाय है?–आदिम समाजों में पड़ौस में समुदाय की विशेषताएं पायी जाती थी। कुछ गाँवों में पड़ौस आज भी समुदाय के रूप में महत्वपूर्ण है, परंतु अब ऐसे समुदायों की संख्या नहीं के बराबर है। पहले पड़ौस एक निश्चित क्षेत्र में पीढ़ी–दर–पीढ़ी निवास करने वाले परिवारों का एक समूह था जिसमें सामुदायिक भावना थी, परंतु आज के आधुनिक जटिल नगरीकृत समाजों में पड़ौस को निम्न कारणों से समुदाय नहीं माना जा सकता–

1. पड़ौस सामान्यताओं का क्षेत्र नहीं है। यहाँ सभी व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है।

इसके अलावा जीवन स्तर संबंधी भी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ सभी लोगों का जीवन स्तर समान नहीं होता।

2. नगरीय क्षेत्रों में लोग अपने पड़ौसी को जानते तक नहीं। एक ही मकान में रहने वाले लोग एक दूसरे से अपरिचित होते हैं। ऐसी दशा में उनमें 'हम की भावना' या सामुदायिक भावना कैसे पनप सकती है जो कि समुदाय के लिए आवश्यक है।

3. आज कल तो पड़ौस का स्वतः विकास भी नहीं होता। अब तो जान–बूझकर नयी कॉलोनियाँ जैसे कर्मचारी कॉलोनी, मजदूर बस्ती, आदि बनायी जाती हैं। जिनमें व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने पड़ौस को चुनता है।

4. यहाँ नियमों की कोई सामान्य व्यवस्था नहीं पायी जाती है, जो व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करे और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे। इन सब कारणों की वजह से विशेषतः नगरीय समुदायों और कुछ अपवादों को छोड़कर ग्रामीण समुदायों में भी पड़ौस को समुदाय नहीं माना जा सकता।

किसी राजनीतिक दल, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, विद्यार्थी समूह, कर्मचारी संघ, क्लब, परिवार, आदि को समुदाय नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें समुदाय के आवश्यक आधारों एवं विशेषताओं का अभाव पाया जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त किसी भी अन्य समूह के संबंध में विद्यार्थी–गुण समुदाय के आधार और विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह निश्चित कर सकते हैं कि वह समुदाय है या नहीं।

समुदाय और समाज में अंतर
Distinction between Community and Society

समुदाय	समाज
1. समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है।	समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।
2. व्यक्तियों का समूह होने के कारण समुदाय मूर्त है।	सामाजिक संबंधों का जाल होने के कारण समाज अमूर्त है।
3. समुदाय के लिए निश्चित क्षेत्र या भू–भाग का होना आवश्यक है।	समाज के लिए निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक नहीं है। समाज विशेष के सदस्य अलग अलग क्षेत्रों में बिखरे हो सकते हैं।
4. समुदाय के लिए सामुदायिक भावना अत्यंत आवश्यक है। समुदाय में सहयोगी सामाजिक संबंधों पर विशेष जोर दिया जाता है।	समाज के लिए सामुदायिक भावना आवश्यक नहीं है। समाज में सहयोगी और असहयोगी दोनों ही प्रकार के सामाजिक संबंध पाए जाते हैं।
5. समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है।	समाज का अपना कोई नाम नहीं होता है।
6. समुदाय समाज का एक भाग है। एक समुदाय में एक से अधिक समाज नहीं हो सकते।	समाज व्यापक है। एक समाज में कई समुदाय हो सकते हैं।
7. समुदाय की प्रकृति क्षेत्रीय या स्थानीय है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ, संघ, आदि होते हैं। समुदाय को विभिन्न भागों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।	समाज की प्रकृति समग्रता या संपूर्णता की होती है जिसे विभिन्न भागों में बाँटकर नहीं समझा जा सकता है।

सामाजिक समूह
(Social Group)

मानव समाज के इतिहास में समूह का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज में रहकर ही हो सकता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि समूह में रहने की इच्छा जो कि मानव की एक मूल प्रवृति है, प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। यही कारण है कि समाजशास्त्र के अंतर्गत समूह एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसकी महत्ता इतनी अधिक है कि बोगार्डस, जानसन आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के अध्ययन का विषय कहा है।

ऐसा कोई भी मानव समाज इतिहास में नहीं रहा जो समूह–रहित हो। वस्तुतः मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति समाज के अंतर्गत ही होती है। समाज या समूह से अलग होकर मानव जीवन संभव नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार से हम अपने आपको समूह से संबंधित मानते हैं। बालक में बुद्धि के विकास एवं सीखने की क्षमता विद्यमान रहती है पर उसका विकास समूहगत समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव हो पाता है।

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social group)

समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ऑगबर्न तथा निमकाफ ने कहा है कि 'जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं एवं एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

मेकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि 'समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।'

इन विद्वानों ने समूह निर्माण के लिए व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों को तो आवश्यक माना है, परंतु संबंधों की सीमा अथवा मात्रा का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है जो

कि अत्यंत आवश्यक है। इन परिभाषाओं से ऐसा भी लगता है कि जब कभी दो या दो से अधिक अपरिचित व्यक्ति आपस में मिलते हैं तो उससे समूह का निर्माण होता है परंतु यह दृष्टिकोण थोड़ा भ्रामक भी हो सकता है।

यह सही है कि सामाजिक समूह व्यक्तियों का एक ऐसा संकलन है जहाँ सामाजिक संबंध पाया जाता है। परंतु जैसा कि मर्टन का कहना है कि क्षणिक सामाजिक संबंध सामाजिक समूह को विकसित नहीं करते हैं वस्तुतः समूह निर्माण के लिए सदस्यों के बीच पायी जाने वाली अन्तः क्रिया एवं सामाजिक संबंधों की निरंतरता एवं स्थायित्व समूह के ढांचे को स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त मर्टन ने समूह के दो महत्वपूर्ण पक्ष 1. व्यक्तिपरक पक्ष तथा 2. वस्तुपरक पक्ष, की भी चर्चा की है। इनका संबंध समूह की सदस्यता से है। व्यक्तिपरक पक्ष का तात्पर्य यह है कि स्वयं समूह के सदस्यों में इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि वे समूह के सदस्य है। वस्तुपरक पक्ष का अर्थ यह है कि समूह के सदस्यों के अतिरिक्त दूसरे लोग या एक निरपेक्ष व्यक्ति भी इसे माने कि अमुक व्यक्ति अमुक समूह का सदस्य है। इस प्रकार मर्टन के अनुसार सामाजिक समूह के मुख्य तत्व निम्न हैं–

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना।
2. कुछ सीमा तक स्थायी एवं बार–बार होने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया
3. समूह के सदस्य अपने आपको निश्चित समूह के सदस्य मानें तथा बाहरी लोग भी उन्हें उस समूह का सदस्य माने।

सामाजिक समूह की परिभाषाएँ (Definitions of Social Group)

प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी है–

1. बॉटामोर के अनुसार–'सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें 1. विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित संबंध होते हैं और 2. प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह में कम से कम अल्पविकसित संरचना और संगठन (नियमों और संस्कारों सहित) तथा उसके सदस्यों में चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है।

2. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार–'समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।''

3. बोगार्डस के अनुसार–'एक सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके अपने कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया एवं सामाजिक संबंधों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः समूह के तीन तत्व होते हैं– 1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, 2. उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंधों का होना, तथा 3. उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों का होना अत्यावश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर संबंधों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ (General characteristics of social groups)

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. समूह व्यक्तियों का संग्रह है (Group is a collection of individuals) –समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परंतु उनके मध्य अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। इसी अन्तर्क्रिया से सामाजिक संबंधों का जन्म होता है।,

2. समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है (Group has its own social structure) –प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फिचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है उस संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी प्रस्थिति से संबंधित भूमिका निभानी पड़ती है।

3. समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है (Group has functional division of work) –समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिए–शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग–अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारित कार्यों को निष्पादित करते हैं।

4. समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है (Group has its general interests) –मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है, क्योंकि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतएव

उनकी भावनाएँ भी एक सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में न संबंधों में दृढ़ता रहेगी और न समूह में संगठन ही होगा।

5. समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है (Membership of a particular group is voluntary)– परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अतः मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के संपर्क में आता है।

6. समूह की अपनी सत्ता होती है (Group has its entity) –समूह का आधार सामूहिक व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व संभव नहीं है। व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अतः वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ ही साथ, इससे समूह को स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

7. सामाजिक मानदंड समूह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (Social norms play an important role in group)– समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदंडों या आदर्श–नियमों की स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन्हीं मानदंडों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदंड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हो।

8. समूह एक मूर्त संगठन है (Group is a concrete organization)–सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण (Classification of Social Groups)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों को सामने रखकर किया है। प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण निम्नवर्णित प्रकार से किया है–

मैकाइवर एवं पेज का वर्गीकरण (Classification of MacIver and Page)

मैकाइवर एवं पेज ने समस्त सामाजिक समूहों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। ये तीन वर्ग निम्नांकित हैं–

1. क्षेत्रीय समूह (Territorial group)–ये समूह वे हैं जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं। उदाहरणार्थ– राष्ट्र, पड़ोस, गाँव, नगर, देश, जनजाति आदि क्षेत्रीय समूह है।

2. हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन नहीं होता है (Interest conscious group without definite organization)–ये समूह अपने हितों के बारे में सचेत तो अवश्य है, लेकिन इनमें निश्चित संगठन की कमी होती है। इस प्रकार के समूह के सदस्यों में समान प्रवृत्ति पाई जाती है। एक समूह से दूसरे समूह में जाने की इच्छा व पद प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति भी इनमें पाई जाती है। इसका उदाहरण वर्ग, शरणार्थी समूह, समान तथा असमान रुचि वाली भीड़ है।

3. हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन होता है (Interest conscious group with definite organization)–ये समूह अपने हितों के संबंध में सचेत होते हैं तथा संगठित भी होते हैं। इन समूहों की सदस्य संख्या सीमित होती है पर इनके उत्तरदायित्व असीमित होते हैं, उदाहरणार्थ– परिवार,पड़ोस, क्लब आदि। इस श्रेणी में कुछ समूह इस प्रकार के भी आते हैं जिनकी सदस्य संख्या तो अत्यधिक होती है परंतु संगठन में औपचारिकता होती है : उदाहरणार्थ– राज्य, चर्च, श्रमिक संघ आदि।

समनर का वर्गीकरण (Classification of Sumner)

समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है–

1. अन्तः समूह (In-group)–जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है उन्हें उसका अन्तः समूह कहा जाता है। अन्तःसमूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है। वे अन्तःसमूह के सुख को अपना सुख तथा दुख को अपना दुख मानते हैं। समूह का अस्तित्व सदस्य स्वयं का अस्तित्व मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के समूह में 'हम की भावना' पाई जाती है। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से भावात्मक संबंधों द्वारा बँधा होता है। प्रेम, स्नेह, त्याग और सहानुभूति का भाव स्पष्ट रूप से सदस्यों के मध्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए परिवार अन्तः समूह का एक चिरपरिचित उदाहरण है। अपना गाँव, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि अन्तः समूह के अन्य उदाहरण हैं। प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र उसका अन्तः समूह है। वह अपने देश की प्रशंसा उसकी प्रगति से प्रारंभ करता है। इसके विपरीत देश की अवनति या बुराई से उसे दुःख होता है। ठीक इसी प्रकार पड़ोस या जिस शिक्षण संस्था का वह सदस्य है, वह व्यक्ति का अन्तः समूह होता है । वह उस समूह (अन्तःसमूह) से विशेष लगाव व स्नेह रखता है। वह ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे कि समूह को इच्छा होती है। अतः अन्तःसमूह, सदस्यों की दृष्टि में उनका अपना समूह होता है। उसके साथ सदस्य अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। एक समूह के सदस्यों के लिए जो अन्तःसमूह होता है, दूसरे समूह के सदस्यों के लिए वही बाह्यसमूह होता है। अन्तःसमूह प्राथमिक भी हो सकते हैं, द्वितीयक भी, वे स्थायी भी हो सकते हैं तथा अस्थायी थी।

2. बाह्य समूह (Out group)–कोई व्यक्ति बाह्य समूह का उल्लेख अपने अन्तःसमूह के संदर्भ में करता है। बाह्यसमूहों

के लिए वे या अन्य जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। बाह्यसमूह में जो गुण पाए जाते हैं वे अन्तः समूह से विपरीत होते हैं। इसमें इस तरह की भावना होती है व्यक्ति इसे दूसरों का समूह समझता है। इसी कारण बाह्यसमूह के प्रति सहयोग, सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है। उसके स्थान पर बाह्यसमूह के प्रति दूरी या अलगाव, खिन्नता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा, पक्षपातपूर्ण भावना रहती है। यह भावना यदा–कदा शत्रुता या वैर के रूप में भी हो सकती है। उदाहरण के लिए– हम इस पड़ोस के सदस्य हैं लेकिन 'वो' पड़ोस बहुत भ्रष्ट और गंदा है। वहाँ के रहने वाले जानवर से भी गए गुजरे हैं। इसमें 'वो' समूह एक बाह्यसमूह है। शत्रु सेना, विदेशी समूह, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समूह आदि बाह्यसमूह के ही प्रमुख उदाहरण हैं।

कूले का वर्गीकरण (Classification of Coole)

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में भेद किया है। इनके अनुसार, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ संबंध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि वे व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव तथा आदर्शों के निर्माण में मूलभूत होते हैं।''

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं– 1. परिवार, 2. क्रीड़ा समूह तथा 3– पड़ोस। उन्होंने समूह का जो दूसरा विभाजन किया उसे द्वितीयक समूह कहते हैं। कूले के अनुसार द्वितीयक समूह ऐसे समूह है जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव पाया जाता है। इनमें सामान्यतः उन विशेषताओं का अभाव होता है जो कि अधिकांशतः प्राथमिक समूह में पाई जाती है। उदाहरण के लिए– कॉरपोरेशन, श्रोतागण, क्लब, राष्ट्र, चर्च, व्यावसायिक संघ आदि द्वितीयक समूह ही है।

गिलिन एवं गिलिन का वर्गीकरण (Classification of Gillin and Gillin) –

गिलिन एवं गिलिन ने समूहों के सभी संबंधित आधारों को सामने रखकर समूहों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है–

1. रक्त संबंधी समूह (जैसे–परिवार, जाति आदि)
2. शारीरिक विशेषताओं पर आधारित समूह (जैसे– समान लिंग, आयु अथवा प्रजाति पर आधारित समूह)
3. क्षेत्रीय समूह–(जैसे–जनजाति, राज्य, राष्ट्र इत्यादि)
4. अस्थिर समूह–(जैसे–भीड़, श्रोता समूह इत्यादि)
5. स्थायी समूह–(जैसे–खानाबदोशी जत्थे, ग्रामीण पड़ोस, कस्बे, शहर तथा विशाल नगर इत्यादि), तथा
6. सांस्कृतिक समूह (जैसे–आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोरंजनात्मक तथा शैक्षिक समूह)

सामाजिक समूहों के अन्य वर्गीकरण (Other classifications of Social groups)

सामाजिक समूहों के अनेक अन्य वर्गीकरण भी किए गए हैं। उदाहरणार्थ, **एलवुड** ने समूहों को ऐच्छिक व अनैच्छिक समूह, संस्थागत व असंस्थागत समूह तथा स्थायी व अस्थायी समूहों में विभाजित किया है। **गिडिंग्स** ने समूहों को जननिक समूह एवं इकट्ठे समूह का उल्लेख किया है। जननिक समूह परिवार है जिसमें मनुष्य का जन्म होता है। इकट्ठा समूह ऐसा ऐच्छिक समूह है जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से सम्मिलित होता है। **वार्ड** ने दो प्रकार के समूह बताए हैं– ऐच्छिक समूह तथा अनिवार्य समूह। **सोरोकिन** ने एकल–प्रबंधन समूह/एकल–कार्यात्मक समूह तथा बहु–बंधन समूह/बहु कार्यात्मक समूह का उल्लेख किया है। **नूनेज** ने चार प्रकार के समूह बताए हैं– संरचित समूह, संरचित अर्द्ध–समूह, आकस्मिक अर्द्ध समूह तथा कृत्रिम समूह। **मर्टन** ने समूहों को सदस्यता समूह तथा गैर सदस्यता समूह में विभाजित किया है। **लियोपोल्ड** ने समूहों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है– भीड़, समूह तथा अमूर्त संग्रह। **पार्क एवं बर्गेस** ने समूहों को प्रादेशिक एवं गैर–प्रादेशिक समूहों में विभाजित किया है। **जॉर्ज हासन** ने समूहों को असामाजिक, आभासी सामाजिक, समाज–विरोधी तथा समाज पक्षी समूहों में विभाजित किया है। **बीरस्टीड** ने समूहों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है– सांख्यिकीय समूह, समजातीय समूह, सामाजिक समूह तथा सहचारी समूह। इन्होंने अनेक अन्य समूहों का भी उल्लेख किया है जिनमें वृहत् समूह एवं लघु समूह, बहुसंख्यक समूह एवं अल्पसंख्यक समूह, दीर्घकालीन समूह एवं अल्पकालीन समूह, खुला समूह एवं बंद समूह, स्वतंत्रसमूह एवं आश्रित समूह, संगठित समूह एवं असंगठित समूह इत्यादि प्रमुख हैं।

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्गीकरण कूले का माना गया है। अतः कूले द्वारा प्रतिपादित प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की अवधारणाओं को समझ लेना आवश्यक है।

प्राथमिक समूह का अर्थ (Meaning of Primary Group)

चार्ल्स कूले ने 1909 ई. में अपनी कृति 'सामाजिक संगठन' में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया। इन्होंने अपनी दूसरी कृति 'प्रारंभिक समाजशास्त्र' में द्वितीयक समूह का उल्लेख किया है। कूले की प्राथमिक समूह की अवधारणा, टॉनीज द्वारा प्रतिपादित **गेमाइनशाफट** तथा **गेसेलशाफट** की अवधारणा के बहुत निकट है।

मानव के जीवन में स्नेह, प्रेम, सहानुभूति आदि भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन भावों के विकास में प्राथमिक समूह की मुख्य भूमिका है। ऐसे गुणों के कारण समाज के संगठन को स्थायित्व प्राप्त होता है। मानव जब जन्म लेता है तो उसका रूप पूर्णतः जैविक होता है। सर्वप्रथम यह परिवार के संपर्क में आता है तथा परिवार उसे सामाजिक प्राणी बनाता है। चूंकि परिवार मनुष्य के जीवन में प्रथम या प्राथमिक है, इसलिए इसे प्राथमिक समूह कहा जाता है। प्राथमिक समूह

से अभिप्राय उन समूहों से है जिनमें प्रत्यक्ष, अनौपचारिक, घनिष्ठ एवं प्राथमिक संबंध पाए जाते हैं।

प्राथमिक समूह की परिभाषा (Definition of Primary Group)

चार्ल्स कूले के शब्दों में, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ संबंध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में 'प्राथमिक' होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव व आदर्शों के निर्माण में वे मूलभूत होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ संबंधों का परिणाम सभी व्यक्तियों का एक सामान्य संपूर्णतया में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य संपूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाते हैं। इस संपूर्णता की अभिव्यक्ति करने के लिए संभवतः सबसे सरल ढंग यह है कि इसे 'हम' शब्द द्वारा संबोधित किया जाए। इस संपूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति व पारस्परिक एकरूपता की भावना पाई जाती है, जिनके लिए 'हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।''

कूले की परिभाषा प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं का बोध कराती है। उन्होंने प्राथमिक समूह को एक ऐसा समूह माना है जिसके सदस्यों के मध्य आमने–सामने का संबंध होता है। आमने–सामने के संबंधों के कारण सदस्य परस्पर घनिष्ठ संबंधों से बँधे होते हैं। ये समूह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव बनाने में तथा उसके जीवन में आदर्शों का निर्माण करने में भी प्राथमिक होते हैं। उदाहरण के लिए– परिवार को ही लिया जाए, जिसे कूले ने प्रथम प्राथमिक समूह माना है। परिवार के सदस्यों के आमने सामने के संबंध पाए जाते हैं। इसके कारण सभी सदस्य एक दूसरे से घनिष्ठ संबंधों में बंधे रहते हैं। वे एक दूसरे की सहायता या सहयोग भी करते हैं। परिवार समाजीकरण करने वाला सर्वप्रथम समूह होता है। इसी से व्यक्ति भाषा, खाने पीने के ढंग, व्यवहार के ढंग, आचार–विचार सीखता है। अन्य शब्दों में, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का निर्माण प्राथमिक समूह ही करते हैं।

प्राथमिक संबंधों में घनिष्ठता होने के कारण सदस्यों का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में मिल जाता है। इससे संपूर्ण रूप से 'हम' की भावना का जन्म होता है। 'हम' की भावना एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो यह दर्शाती है कि समूह के प्रति सदस्यों में कितनी निष्ठा, लगाव और सहानुभूति है। इसलिए इस समूह का सुख–दुख उनका अपना सुख–दुख बन जाता है।

कूले ने तीन महत्वपूर्ण प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है–परिवार, खेल–साथियों का समूह या क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस। इन्हें प्राथमिक मानने का कारण इनका सभी युगों में तथा सभी समाजों में पाया जाना है। ये समूह मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में आधारभूत तथा प्राथमिक योगदान प्रदान करते हैं। ये समूह व्यक्ति (जो जैविक प्राणी होता है) में सामाजिक गुणों को भरने (सामाजिक बनाने) में भी प्राथमिक होते हैं।

किंग्स्ले डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान दो बातों की ओर दिलाया है– प्रथम, कूले ने वास्तविक समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा, समूह, पड़ोस आदि) को प्राथमिक समूह कहा है तथा द्वितीय, कूले ने एक ओर तो ''आमने–सामने की समिति'' वाक्यांश का प्रयोग किया है और दूसरी और संबंधों के कुछ विशिष्ट गुणों, जैसे सहानूभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य पर बल दिया है। डेविस के अनुसार इन दोनों से प्राथमिक समूह के बारे में कुछ भ्रांति उत्पन्न होती है। ये दोनों बातें कुछ अंशों में प्रत्येक समूह में पाई जाती है। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष संबंध (जैसे पत्र व्यवहार द्वारा दो व्यक्तियों में मित्रता) तथा मित्रतापूर्वक एवं घनिष्ठ प्रत्यक्ष संबंध (जैसे सैनिकों का अभिवादन) भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक प्रकृति के हो सकते हैं।

प्राथमिक समूहों की विशेषताएँ (Charactersitics of Primary groups)

डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहों की प्रकृति को तीन पहलुओं के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं–

अ– प्राथमिक समूहों की बाह्य विशेषताएँ या भौतिक दशाएँ (External or Physical Characteristics of Primary groups)

किंग्स्ले डेविस ने अग्रांकित तीन प्रमुख भौतिक दशाओं को प्राथमिक समूह के लिए अनिवार्य माना है–

1. शारीरिक समीपता (Physical proximity)– प्राथमिक समूहों के लिए शारीरिक समीपता का होना आवश्यक है। जिसे कूले ने आमने–सामने का संबंध कहा है उसी के लिए किंग्स्ले डेविस ''शारीरिक समीपता'' शब्द का प्रयोग करते हैं। पारस्परिक घनिष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानें। परस्पर जानने से एक–दूसरे के विचारों से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे एक–दूसरे की भावनाओं को समझा जा सकता है तथा 'हम की भावना' का विकास होता है।

2. सीमित आकार (Limited size)–प्राथमिक समूह आकार में लघु होते हैं। सदस्यों की कम संख्या के कारण ही सदस्यों में घनिष्ठता होती है। किंग्स्ले डेविस का कथन है कि प्राथमिक समूह को आकार में छोटा होना ही चाहिए, क्योंकि यह असंभव है कि एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों से बुद्धिमतापूर्ण संबंध स्थापित किया जा सके। फेयरचाइल्ड का विचार है कि प्राथमिक समूह में तीन–चार से लेकर पचास–साठ व्यक्ति तक पाये जा सकते हैं।

3. संबंधों की लंबी अवधि (Longer duration of relations) – संबंधों की घनिष्ठता पर्याप्त रूप से उनकी

अवधि पर निर्भर करती है। संबंधों की अवधि जितनी लंबी होती है, संबंध उतने ही घनिष्ठ होते हैं। प्राथमिक समूह में स्थिरता पायी जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं– प्रथम, यह कि सभी सदस्य एक दूसरे को भली भांति जानते हैं, जिससे संबंध घनिष्ठ बने रहते हैं। घनिष्ठ संबंधों के कारण समूह में स्थिरता रहती है तथा द्वितीय, यह कि प्राथमिक समूह के लक्ष्य सामान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त संबंधों में निरंतरता (लंबी अवधि), सदस्यों की एकता तथा आत्मीयता के कारण अन्य समूहों से प्राथमिक समूह अधिक स्थिर होता है।

ब– प्राथमिक समूहों की आंतरिक विशेषताएँ : संबंधों की प्रकृति (Internal characteristics of primary groups: Nature of relationship)

प्राथमिक समूहों के लिए बाह्यविशेषताओं के साथ–साथ आंतरिक या मानसिक विशेषताएँ भी महत्व रखती हैं। आंतरिक विशेषताओं के अंतर्गत सदस्यों में पाए जाने वाले संबंध आते हैं। डेविस ने प्राथमिक संबंधों की पाँच प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. लक्ष्यों में सादृश्यता (Identity of ends)– प्राथमिक समूह के सदस्यों में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। इस घनिष्ठता का मुख्य आधार है सदस्यों के लक्ष्यों या उद्देश्यों में समानता। प्रत्येक सदस्य यह प्रयत्न करता है कि वह अपने लक्ष्यों या हितों को पूरा करने हेतु किसी दूसरे के हितों का हनन या अवहेलना न करे।

2. संबंध स्वयं साध्य होता है (Relationship is an end in itself)– प्राथमिक समूह में जो संबंध स्थापित किए जाते हैं, उनमें किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने की भावना निहित नहीं होती। किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राथमिक समूह में संबंध स्थापित नहीं किए जाते हैं, अपितु संबंध ही अंतिम लक्ष्य होता है।

3. संबंध व्यक्तिगत होता है (Relationship is personal)– प्राथमिक समूहों में सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। इसी कारण, संबंधों में आडंबर या दिखावा नहीं होता और न ही इनका हस्तांतरण किया जा सकता है। संबंध अवैयक्तिक तथा औपचारिक नहीं होते वरन् वैयक्तिक एवं घनिष्ठ होते हैं।

4. संबंध सर्वांगीण होते हैं (Relationship is inclusive) – प्राथमिक समूह के कार्य में हर एक सदस्य संपूर्ण हृदय तथा इच्छा से भाग लेता है। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते तथा पहचानते हैं। अतएव एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति जागरूक होता है। सभी सदस्य आपस में मिलकर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए प्राथमिक समूहों में पाए जाने वाले संबंध सर्वागीण होते हैं। अन्य शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन की संपूर्ण दशाओं को जानता है।

5. संबंध स्वतः होते हैं (Relationship is spontaneous) –प्राथमिक समूहों में संबंधों का विकास स्वतः होता है। प्रत्येक सदस्य के साथ दूसरे सदस्य का जो संबंध होता है उसका आधार है स्वयं की इच्छा। यह संबंध किसी प्रकार के दबाव, प्रलोभन या शर्त द्वारा स्थापित नहीं होता है। व्यक्ति अपनी प्रसन्नता व इच्छा से समूह के लिए या सदस्यों के लिए अपना सब–कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है।

प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है? (Why primary grooups are regarded as Primary?)

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं– 1. परिवार, 2. पड़ोस तथा 3. क्रीड़ा समूह। कूले ने इन प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर हम अनेक दृष्टिकोणों को सामने रखकर दे सकते हैं। प्राथमिक समूहों को निम्नलिखित कारणों से प्राथमिक कहा जाता है–

1. प्राथमिक समूह समय की दृष्टि से प्राथमिक है– प्राथमिक समूहों को समय की दृष्टि से प्राथमिक कहा गया है। सर्वप्रथम बच्चा इन्हीं समूहों के संपर्क में आता है। उदाहरण के लिए– सर्वप्रथम बच्चा परिवार, क्रीड़ा समूह या मित्र–मंडली तथा पड़ोस के संपर्क में ही आता है।अन्य समूहों से इसका संपर्क बाद में होता है।

2. प्राथमिक समूह महत्व की दृष्टि से प्राथमिक है– प्राथमिक समूहों का व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्माण में विशेष महत्व होने के कारण भी इन्हें प्राथमिक कहा गया है। ये संपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए आदर्श स्वरूप होते हैं।

3. प्राथमिक समूह मौलिक मानव संघों का प्रतिधिनित्व करने की दृष्टि से प्राथमिक है– मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि होने के कारण ही प्राथमिक समूहों को प्राथमिक माना गया है। **किम्बल यंग** के अनुसार प्राथमिक समूह संभवतः उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मानव जीवन। ये सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समुदाय का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्वपूर्ण इकाई है।

4. प्राथमिक समूह समाजीकरण की दृष्टि से प्राथमिक है– प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह बच्चों को सामाजिक प्राणी बनाने में विशेष महत्व रखते हैं। इन्हीं से व्यक्ति अपने समूह की परंपराओं, मान्यताओं एवं संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारी रूढ़ियों और परंपराओं का जन्म भी इसी समूह में होता है।

5. प्राथमिक समूह संबंधों की प्रकृति के आधार पर प्राथमिक है– प्राथमिक समूह में प्राथमिक संबंध पाए जाते हैं। लक्ष्यों में सादृश्यता, स्वयं साध्य होना तथा संबंधों का स्वजात, व्यक्तिगत एवं सर्वांगीण होना प्राथमिक संबंधों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। परिवार, क्रीड़ा, समूह तथा पड़ोस जैसे प्राथमिक समूहों में ये विशेषताएँ स्पष्ट देखी जा सकती है।

साथ ही प्राथमिक समूहों को इसलिए भी प्राथमिक कहा गया है क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सहिष्णुता दया, प्रेम और उदारता की मनोवृति जन्म लेती है।

6. प्राथमिक समूह आत्म–नियंत्रण की दृष्टि से भी प्राथमिक है– प्राथमिक समूह व्यक्ति में आत्म–नियंत्रण की भावना उत्पन्न करते हैं। वास्तव में, ये सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन है। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण ही, प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता है। **कूले** का कहना है कि प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही, इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।

द्वितीयक समूह का अर्थ (Meaning of Secondary Group)

आज सभ्यता की उन्नति के साथ–साथ द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। द्वितीयक समूह की प्रकृति प्राथमिक समूह की प्रकृति के विपरीत होती है। **किंग्स्ले डेविस** का कथन है कि, 'स्थूल रूप से द्वितीयक समूहों को, जो चीजें प्राथमिक समूह के बारे में कही गई है उनके विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।'' द्वितीयक समूह इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं कि इनके सदस्यों को निकटता में रहने की आवश्यकता नहीं होती। न ही सभी सदस्य एक दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हैं। इनमें ऐसे संबंध होते हैं जो स्वयं में लक्ष्य नहीं होते, न वैयक्तिक और न ही संयुक्त होते हैं।

अतः प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह को द्वितीयक समूह की संज्ञा दी जाती है। यह समूह का वह रूप है जो अपने सामाजिक संपर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की घनिष्ठता से भिन्न है।

द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ (Definitions of Secondary Group)

प्रमुख विद्वानों ने द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी है–

1. आगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार–जो समूह घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।

2. फेयरचाइल्ड के अनुसार–समूह का वह रूप, जो अपने सामाजिक संपर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक या आमने सामने के समूह की तरह घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह कहलाता है।

3. लुंडबर्ग के अनुसार–द्वितीयक समूह वे हैं जिनमें दो या अधिक व्यक्तियों के संबंध अवैयक्तिक, हित–प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।

4. कूले के अनुसार–''द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव होता है और सामान्यतः उन विशेषताओं का भी अभाव होता है जो कि अधिकतर प्राथमिक तथा अर्द्ध–प्राथमिक समूहों में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के विपरीत विशेषताएँ पाई जाती है। वे आकार में बड़े होते हैं तथा इनमें घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

द्वितीयक समूहों की विशेषताएं (Characteristics of Secondary Groups)

द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. बड़ा आकार (Large size)–द्वितीयक समूह में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, अतएव द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। द्वितीयक समूहों की सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती है।

2. उद्देश्यों का विशेषीकरण (Specialization of interests)–द्वितीयक समूह किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। कोई भी द्वितीयक समूह उद्देश्यविहीन नहीं होता और न ही किसी स्वार्थरहित द्वितीयक समूह की कल्पना ही की जा सकती है। इसी कारण किंबल यंग ने इन्हें 'विशेष स्वार्थ समूह' कहा है।

3. अप्रत्यक्ष संपर्क (Indirect contact)–द्वितीयक समूह में प्रत्यक्ष संपर्क भी हो सकते हैं, तथापि प्रायः अप्रत्यक्ष संपर्क ही अधिक पाया जाता है। इसका मुख्य कारण समूह के आकार का बड़ा होना है। अप्रत्यक्ष संपर्क के कारण घनिष्ठता का जन्म उस सीमा तक नहीं होता है जितना कि प्राथमिक समूह में होता है।

4. व्यक्तिगत तथा घनिष्ठ संबंधों का अभाव (Lack of personal and intimate relations)–द्वितीय समूहों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने के कारण प्रत्येक सदस्य परस्पर वैयक्तिक रूप से संबंध स्थापित नहीं कर पाते, अतः उनमें घनिष्ठता नहीं आ पाती है।

5. उद्देश्यों की भिन्नता (Different objectives)–द्वितीयक समूह में प्रत्येक व्यक्ति अपने हित या लक्ष्य को पूरा करने की सोचता है। जब सभी सदस्य अपने ही हित को पाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे तब उस स्थिति में उद्देश्यों की भिन्नता पाई जाएगी। उद्देश्यों की भिन्नता के कारण ही द्वितीयक समूहों में स्वार्थ–सिद्धि तथा प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिलता है।

6. औपचारिक संबंध (Formal relations)–द्वितीयक समूहों के सदस्यों का पारस्परिक संबंध कुछ निश्चित नियमों व उपनियमों के अनुसार नियंत्रित होता है। यदि ये नियम नहीं हो तो इन समूहों में अव्यवस्था फैल जाएगी। इन नियमों के कारण सदस्यों का संबंध औपचारिक होता है।

7. इच्छा से स्थापित (Deliberately established)–चूँकि ये विशेष स्वार्थ समूह होते हैं इस कारण इनकी स्थापना जान–बूझकर की जाती है। जब सदस्यों को कोई विशेष लक्ष्य

या उद्देश्य प्राप्त करना होता है तो उस दशा में लोग द्वितीयक समूह की स्थापना करते हैं ताकि उनके लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अंतर (Difference between Primary and Secondary groups)

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ पूर्णतः एक दूसरे के विपरीत होती है। दोनों में निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर अंतर स्पष्ट किया जा सकता है–

1. आकार–प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। उदाहरण के लिए परिवार, पड़ोस तथा मित्र–मंडली का आकार सीमित है। फेयरचाइल्ड के अनुसार इसमें तीन चार व्यक्तियों से लेकर पचास साठ व्यक्तियों तक तथा कूले के अनुसार इसमें दो से साठ व्यक्तियों तक की संख्या हो सकती है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। संपूर्ण राष्ट्र भी एक द्वितीयक समूह है जिसकी संख्या असीमित होती है।

2. संबंध–प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने सामने के वैयक्तिक व घनिष्ठ संबंध पाए जाते हैं। वैयक्तिक संबंधों के कारण इनमें औपचारिकता नहीं होती है। इसके विपरीत प्रेम, सहयोग, सद्भावना आदि आंतरिक गुणों का समवेश होता है। इनमें हम की भावना की प्रधानता रहती है। द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक संबंध पाए जाते हैं। इनमें सहयोग, स्नेह, घनिष्ठता की कमी होती है और 'हम' के स्थान पर 'मैं' की प्रधानता रहती है।

3. हित–प्राथमिक समूह में कोई विशेष हित नहीं होता है। सभी कार्यों में प्रत्येक सदस्य पूर्ण हृदय से हिस्सा लेते हैं। वे समूह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं। द्वितीयक समूह में, जो कि विशेष स्वार्थ समूह के नाम से जाने जाते हैं, प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जी जान से कोशिश करता है। यदि उसे अपने हित के लिए दूसरे सदस्यों के हितों की अवहेलना भी करनी पड़ जाए तो भी वह इसके लिए तत्पर रहता है।

4. संबंधों का जन्म–प्राथमिक संबंधों का जन्म स्वतः होता है। इस प्रकार के संबंधों की स्थापना में किसी प्रकार की कोई शर्त या दबाव नहीं होता है। द्वितीयक समूह में संबंध स्थापित करने के लिए आडंबर या कृत्रिमता का आश्रय लिया जाता है। इनमें प्राथमिक संबंधों (जो कि आमने सामने के संबंध है) के विपरीत, संबंध अप्रत्यक्ष अथवा दूर संचार के माध्यम से होते हैं।

5. दायित्व–प्राथमिक समूहों में दायित्व की कोई सीमा नहीं होती है। यही नहीं बताया जा सकता कि माँ अपने पुत्र के प्रति कितने दायित्वों को निभाएगी। द्वितीयक समूहों में सदस्यों का दायित्व सीमित व शर्तों या नियमों के अनुसार होता है।

6. नियम–प्राथमिक समूह में किसी प्रकार का लिखित नियम नहीं होता है। ये समूह अनौपचारिक होते हैं। ये अपने सदस्यों पर कोई कानून या शर्त नहीं लगाते हैं। द्वितीयक समूह की प्रकृति औपचारिक है। इसमें अनेक प्रकार के नियम, कानून तथा कार्यविधियों को सदस्यों पर थोपा जाता है और नियम का उल्लंघन करने वालों को औपचारिक दंड मिलता है।

7. नियंत्रण–प्राथमिक समूहों में नियंत्रण की प्रकृति अनौपचारिक होती है। निंदा व तिरस्कार आदि के द्वारा सदस्यों का व्यवहार नियंत्रित होता है। द्वितीयक समूहों के नियंत्रण की प्रकृति औपचारिक होती है। द्वितीयक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण कानून, पुलिस आदि द्वितीयक साधनों की सहायता से करता है।

8. क्षेत्र–प्राथमिक समूह प्रत्येक काल व प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। अन्य शब्दों में, ये सार्वभौमिक होते हैं। ये समूह बहुत छोटे क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। द्वितीयक समूह सार्वभौमिक नहीं होते हैं। इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है। कोई–कोई द्वितीयक समूह संपूर्ण देश में भी फैला हो सकता है।

9. प्रभाव–प्राथमिक समूह व्यक्ति के विचारों व मनोवृत्तियों को बनाते हैं, अतः इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है। द्वितीयक समूह विशेषीकृत समूह होते हैं और इनका प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

10. व्यक्तित्व–प्राथमिक समूह में व्यक्ति के व्यक्तित्व का संपूर्ण भाग समूह के संपर्क में आता है। इसीलिए प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे के बारे में पूर्णतया परिचित होते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों में व्यक्तित्व का केवल कुछ भाग ही समूह के संपर्क में आता है।

11. कार्य–प्राथमिक समूह मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है या समाजीकरण करता है। कूले के अनुसार, ''यह मानव स्वभाव का निर्माण स्थल है।'' इसके विपरीत द्वितीयक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विशेषीकरण करते हैं या विशेषीकरण करने वाले समूह हैं।

12. सदस्यता–प्राथमिक समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है। इसके कारण मनुष्य को अपने परिवार, खेल–समूह तथा पड़ोस में रहना पड़ता है। द्वितीयक समूह की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसे हित विशेष को प्राप्त करना है, तभी वह द्वितीयक समूह का सदस्य बनता है।

13. कार्य–क्षेत्र–प्राथमिक समूह का कार्य–क्षेत्र सीमित तथा कम होता है। द्वितीयक समूह का कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

14. 'हम' की भावना–प्राथमिक समूह में हम की भावना पाई जाती है तथा व्यक्तियों के संबंध प्राथमिक होते हैं। द्वितीय समूह में किसी प्रकार की हम की भावना नहीं पाई जाती है तथा संबंध गौण होते हैं।

15. व्यक्तिगत हित व सामूहिक हित–प्राथमिक

समूह समष्टिवादी होते हैं। इसी कारण सदस्यों के व्यक्तिगत हित, सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तिवादी होते हैं। इनमें सामूहिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व दिया जाता है।

16. **प्राचीनता**—प्राथमिक समूह अत्यधिक प्राचीन है, शायद उतने ही जितना कि स्वयं मानव समाज। द्वितीयक समूह तुलनात्मक रूप में नए समूह हैं, जनसंख्या में वृद्धि, औद्योगिक क्रांति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि कारणों से आधुनिक समाजों में द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

संदर्भ समूह की अवधारणा (Concept of Reference Group)

संदर्भ समूह की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है। इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग मनोविज्ञान में **हाइमन** द्वारा 1942 में किया गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक प्रस्थिति का मनोविज्ञान एक ऐसी कृति है जिसके प्रकाशन के बाद संदर्भ समूह की अवधारणा समाजशास्त्र में अधिक प्रचिलत हुई। समाजशास्त्र में इस अवधारणा को व्यवस्थित रूप से विकसित करने का श्रेय प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री **रोबर्ट के मर्टन** को दिया जाता है जिसने 'दि अमेरिकल सोल्जर' नामक पुस्तक से सामग्री लेकर अपने सैद्धांनिक विचारों को व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयास किया है। मर्टन के अनुसार संदर्भ समूह की अवधारणा एक उपयोगी अवधारणा है क्योंकि यह केवल व्यवहार की ही व्याख्या करने में सहायक नहीं है अपितु 'स्व' के मूल्यांकन के अध्ययन में भी सहायक है। इन्होंने इस अवधारणा की व्याख्या 'सापेक्षिक वंचना'के आधार पर की है। **समनर** द्वारा प्रतिपादित अन्तः समूह तथा बाह्यसमूह की अवधारणा जेम्स, कूले तथा मीड द्वारा विकसित 'सामाजिक स्व' के विचारों तथा अभी हाल में ही संदर्भ समूह व्यवहार पर हाइमन, शैरिफ तथा न्यूकोम्ब द्वारा किए गए व्यवस्थित अध्ययनों ने संदर्भ समूह की अवधारणा को विकसित करने में विशेष योगदान दिया है।

हम सब लोग समूहों में रहते हैं तथा अपना मूल्यांकन अन्य लोगों या समूहों (जो कि हमारे समान सामाजिक स्तर रखते हैं अथवा इमसे उच्च सामाजिक स्तर रखते हैं) की तुलना में करते हैं। जब हम अपने समूह के मानदंडों का अनुपालन न कर किसी अन्य समूह के मानदंडों को स्वीकार करते हैं तथा उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, तो उस समूह को हम संदर्भ समूह कहते हैं। इस प्रकार, व्यक्तियों का वह समूह जिसे हम आदर्श मानकर उसकी मान्यताओं के अनुसार अपने आपको ढालना चाहते हैं, संदर्भ समूह कहा जाता है। कई बार संदर्भ समूह के स्थान पर कोई व्यक्ति विशेष भी ऐसा हो सकता है जिसकी तरह हम बनने का प्रयास करते हैं। इसीलिए संदर्भ समूह शब्द को, समूहों के लिए ही नहीं अपितु व्यक्तियों अथवा सामाजिक श्रेणियों के लिए भी प्रयोग किया गया है।

शैरिफ के अनुसार, 'संदर्भ समूह वे समूह है जिनसे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से अपने को संबंधित करता है अथवा संबंधित करने की आकांक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि संदर्भ समूह वे समूह है जिन्हें आदर्श मानकर व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है तथा स्वयं उन समूहों की तरह बनने का प्रयास करता है।'' इसी प्रकार न्यूकोम्ब, टर्नर तथा कनवर्स के अनुसार, 'संदर्भ समूह वह समूह है जिसका प्रयोग कोई व्यक्ति तुलना के लिए मापदंड के रूप में करता है अर्थात् जिससे वह अपने मूल्य प्राप्त करता है।''

इस प्रकार, संदर्भ समूह वे समूह है जिनके मूल्यों को हम प्राप्त करना चाहते हैं, जिनके सदस्यों की तरह हम बनना चाहते हैं तथा जिन्हें हम आदर्श मानते हैं। अगर हम संदर्भ समूह की परिभाषा अधिक विस्तृत अर्थ में तुलनात्मक समूह के रूप में करें तो वे समूह भी जिनके प्रति व्यक्ति घृणा की भावना रखता है अथवा जिन्हें वह अच्छा नहीं मानता संदर्भ समूह की श्रेणी में आ जाते हैं। न्यूकोम्ब ने, वास्तव में, इसी अर्थ में संदर्भ समूह को दो श्रेणियों— सकारात्मक संदर्भ समूह तथा नकारात्मक संदर्भ समूह—में विभाजित किया है। सकारात्मक संदर्भ समूह वे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति अच्छा समझता है तथा जिनके अनुसार वह अपने आपको बदलने का प्रयास करता है, जबकि नकारात्मक संदर्भ समूह वे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति अच्छा नहीं मानता तथा उस समूह में प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है।

प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and role)

समाजशास्त्रीय साहित्य में प्रस्थिति शब्द का तात्पर्य पद से लिया जाता है। प्रत्येक समाज एवं समूह में व्यक्ति का एक समय विशेष में एक निश्चित स्थान होता है। जिसके माध्यम से एक समय विशेष में व्यक्ति की पहचान होती है। ऐसा पद समाज या समूह से स्वीकृत होता है। इस प्रकार समाज या समूह में व्यक्ति के पद को समाजशास्त्रीय भाषा में प्रस्थिति कहा जाता है। एक प्रस्थिति धारणा करने के फलस्वरूप व्यक्ति से जिस प्रकार के कार्यों की समाज सामान्यतः अपेक्षा करता है तथा उसके अनुरूप वह जो कुछ करता है, उसे उसकी 'भूमिका' कहते हैं। प्रत्येक समाज की संरचना एवं संगठन का निर्माण, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा धारण की गयी सामाजिक प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के व्यवस्थित संयोग से ही होता है। इसलिए ही वीरस्टीड लिखते हैं कि 'समाज सामाजिक प्रस्थितियों का जाल है।'' अनेक प्रस्थितियाँ व्यवस्थित रूप से मिलकर ही संपूर्ण समाज का निर्माण करती है। समाज में उनके महत्व एवं उपयोगिता के आधार पर ही प्रस्थितियों के साथ सम्मान एवं शक्ति जुड़ी हुई होती है। प्रत्येक सामाजिक प्रस्थिति को धारण करने वाला

व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करता है जैसा उस प्रस्थिति से संबंधित मानदंडों द्वारा अपेक्षित और मान्य होता है। एक पिता, पति, खिलाड़ी, राजनेता, प्राध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, दुकानदार, छात्र आदि किस प्रकार से समाज में अपनी भूमिका अदा करेंगे, यह सामाजिक नियमों द्वारा तय होता है। प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका के निर्वाह की स्थिति को हम 'प्रस्थिति एवं भूमिका का संतुलन' कहते हैं। यह संतुलन ही सामाजिक संगठन का मुख्य आधार है। इसके अभाव में समाज व्यवस्था विघटित होने लगती है। सामाजिक प्रस्थिति के अनुरूप ही व्यक्ति समाज में परस्पर अन्तःक्रिया करते एवं सामाजिक संबंधों का निर्माण करते हैं।

समाजशास्त्र में प्रस्थिति एवं भूमिका का अध्ययन समाजशास्त्रियों द्वारा समूह, सामाजिक संगठन एवं सामाजिक मानदंडों के अध्ययन के यंत्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका के बारे में महत्वपूर्ण विचार प्रकट करने वालों में लिंटन, मर्टन, पारसंस एवं डेविस आदि समाजशास्त्री प्रमुख हैं। हम यहाँ प्रस्थिति एवं भूमिका के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Status)

प्रस्थिति की अवधारणा को समझने के लिए हम यहाँ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे–

इलियट एवं मैरिल के अनुसार, 'प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह अथवा प्रयत्नों आदि के कारण प्राप्त करता है।

आगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, 'प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।

लेपियर के अनुसार, ''सामाजिक प्रस्थिति सामान्यतः उस पद के रूप में समझी जाती है जो एक व्यक्ति समाज में प्राप्त किये होता है।''

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार, 'प्रस्थिति वह सामाजिक पद है जो व्यक्तिगत गुण तथा सामाजिक सेवा से पृथक् व्यक्ति के आदर, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की मात्रा का निर्धारण करती है।

मार्टिण्डेल तथा मौनाचेसी ने लिखा है, ''सामाजिक प्रस्थिति का अर्थ है सामाजिक संकलन में व्यक्ति का पद जो कि आदर के प्रतीकों एवं क्रियाओं के प्रतिमानों से पहचाना जाता है।''

किम्बाल यंग के अनुसार, ''प्रत्येक समाज तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है जिनके साथ शक्ति तथा प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा जुड़ी होती है। शक्ति तथा प्रतिष्ठा कि जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं वह उसकी प्रस्थिति है।''

लिंटन के अनुसाार, ''सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, उसी को उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कहा जाता है।''

जॉन लेवी के अनुसार, 'किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति अथवा समूह के संस्थागत पदों की संपूर्णता का नाम ही प्रस्थिति है।''

बीरस्टीड ने बताया है, ''सामान्यतः एक प्रस्थिति समाज अथवा एक समूह में एक पद है।''

डेविस के अनुसार, ''प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है तथा जो जनरीतियों एवं रूढ़ियों से संबंध है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रस्थिति व्यक्ति की समूह अथवा समाज में पद की सूचक है। यह पद व्यक्ति को समाज द्वारा स्वतः ही प्रदान किया जा सकता है या व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यता के आधार पर प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति सदैव ही दूसरे व्यक्तियों की प्रस्थितियों की तुलना में ही होती है। अकेले व्यक्ति की कोई प्रस्थिति नहीं होती, अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अध्यापक है तो इसका अर्थ यह है कि कोई उसके छात्र भी हैं। बिना छात्र के कोई व्यक्ति अध्यापक कैसे हो सकता है? इसी प्रकार से जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति नेता है तो इसका अर्थ यह है कि अन्य व्यक्ति अनुगामी भी है क्योंकि बिना अनुगामी के हम नेता की कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार एक प्रस्थिति की दूसरी प्रस्थिति के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। प्रस्थिति शब्द एक ओर तो श्रेणी के विचार को प्रकट करता है तो दूसरी ओर यह व्यक्ति के व्यवहार का भी बोध कराता है। प्रस्थिति एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों की तुलना में प्राप्त अधिकारों एवं कर्तव्यों की परिचायक भी है। साथ ही प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ सामाजिक नियम, मूल्य और मानदंड भी जुड़े होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस प्रस्थिति से सम्बद्ध इन मानदंडों का पालन करें। ऐसा न करने पर उसकी आलोचना की जाती है। एक व्यक्ति समाज में एक साथ अनेक प्रस्थितियों को प्राप्त करता है किंतु वह किसी एक ही प्रमुख प्रस्थिति के द्वारा समाज में जाना जाता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति प्राध्यापक, पिता, पति, मामा, भाई एवं पुत्र आदि विभिन्न प्रस्थितियों को एक साथ धारण करता है किंतु समूह तथा समुदाय में वह किसी एक प्रमुख प्रस्थिति से ही जाना जाता है।

प्रस्थिति और भूमिका के आवश्यक तत्व (Essential elements of status and role)

प्रस्थिति और भूमिका को स्पष्टतः समझने के लिए हम उनके आवश्यक तत्वों का यहां उल्लेख करेंगे–

1. प्रत्येक समाज में एक प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका का निर्धारण उस समाज के सांस्कृतिक कारकों एवं मूल्यों द्वारा होता है। संस्कृति ही यह तय करती है कि किसे कौनसी प्रस्थिति प्रदान की जायेगी और वह क्या भूमिका निभायेगा।
2. प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणा को दूसरे व्यक्तियों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति

एवं भूमिका का संबंध अन्य व्यक्तियों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से होता है जो उनसे प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचार्य की प्रस्थिति एवं भूमिका को प्राध्यापकों एवं छात्रों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

3. एक ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्वाह पृथक्–पृथक् व्यक्तियों द्वारा अपने–अपने ढंग से किया जाता है। प्रधानमंत्री के रूप में पंडित नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री एवं मोरारजी द्वारा समान ढंग से भूमिकाओं का निर्वाह नहीं किया गया।
4. प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति के संपूर्ण सामाजिक पद का केवल एक भाग ही होती है। व्यक्ति समाज में एक साथ अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है और विभिन्न अवसरों पर उनके अनुरूप ही अपनी भूमिका निभाता है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति डॉक्टर, पिता, पति एवं पुत्र की विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करता है और अवसर आने पर इन्हीं प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वाह करता है।
5. प्रस्थिति एवं भूमिका के आधार पर संपूर्ण समाज विभिन्न प्रस्थिति–समूहों में बँटा होता है। इन प्रस्थिति–समूहों के आधार पर हम किसी समाज की विशेषताओं को ज्ञात कर सकते हैं। एक प्रस्थिति–समूह की अपनी एक सी समस्याएँ, विशेषताएँ, स्वार्थ आदि होते हैं। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए कभी कभी एक ही प्रस्थिति समूह में संगठन पाया जाता है। उदाहरणार्थ पूंजीपति एवं श्रमिक प्रस्थिति–समूहों में अपने अपने संगठन पाये जाते हैं।
6. प्रत्येक प्रस्थिति के साथ एक विशेष मूल्य एवं प्रतिष्ठा जुड़ी होती है जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है।
7. एक व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियों को धारण करता है किंतु वह सभी का निर्वाह समान योग्यता एवं कुशलता के साथ नहीं कर पाता है। एक व्यक्ति अच्छा खिलाड़ी हो सकता है किंतु वह एक असफल व्यापारी और लापरवाह पति भी हो सकता है। एक व्यक्ति समाज की प्रत्याशाओं के अनुसार जितने उचित ढंग से अपनी भूमिकाएँ निभाता है, उसकी समाज में उतने ही अनुपात में प्रतिष्ठा होती है।
8. समाज में उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों के कारण ही सामाजिक संस्तरण तथा विभेदीकरण पैदा होता है जो उदग्र या क्षैतिज रूप में हो सकता है।
9. समाज में कुछ प्रस्थितियां प्रदत्त होती हैं जो एक व्यक्ति को समाज स्वयं प्रदान करता है और दूसरी ओर कुछ प्रस्थितियाँ व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रयत्नों के द्वारा अर्जित करता है।

प्रस्थितियों का संगठन (The organization of statuses)

समाज में कोई भी प्रस्थिति अकेली नहीं होती है वरन् वह अन्य प्रस्थितियों से संबंधित एवं प्रभावित भी होती है। समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन उसके द्वारा विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने एवं उसके द्वारा निभायी जाने वाली भूमिकाओं के आधार पर किया जाता है। प्रस्थितियों के संगठन को समझने के लिए 'किंग्सले डेविस' ने प्रस्थिति से संबधित कुछ अवधारणाओं का उल्लेख किया है, वे है, आफिस, स्थिति–संकुल तथा स्तर। हम उन्हें यहाँ स्पष्ट करेंगे।

प्रस्थिति, आफिस, स्थिति–संकुल तथा स्तर (स्तृत)

आफिस (Office)– प्रो. डेविस का मत है कि सामाजिक प्रस्थितियों का संबंध जनरीतियों एवं रूढ़ियों से होता है, ये सामान्य होती है तथा इनका ज्ञान सभी को होता है। दूसरी और कुछ प्रस्थितियों का संबंध विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं, समितियों एवं संगठनों से होता है जिनका दायरा सीमित होता है और जिनका ज्ञान थोड़े से व्यक्तियों को होता है। ऐसी प्रस्थितियों के लिए ऑफिस शब्द का प्रयोग किया गया है। ऑफिस ऐसी प्रस्थिति है जो प्रदत्त न होकर अर्जित होती है। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का मैनेजर, भारत का राष्ट्रपति, राजस्थान विश्वविद्यालय का उप–कुलपति, टाटा स्टील एवं लौह उद्योग का प्रशासक आदि सभी पद ऑफिस है। इस प्रकार ऑफिस किसी औपचारिक संगठन में जान–बूझकर बनाया गया पद है जिस पर सीमित तथा विशेष नियमों का अधिकार तथा नियंत्रण होता है और जो सामान्यतः प्रदत्त न होकर व्यक्ति द्वारा स्वयं प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया जाता है। ऑफिस एक विशिष्ट प्रस्थिति का सूचक है जबकि प्रस्थिति संपूर्ण सामाजिक ढांचे में एक सामान्य स्थिति का। एक ऑफिस पर होने से एक व्यक्ति को एक प्रस्थिति भी प्राप्त होती है किंतु प्रत्येक प्रस्थिति व्यक्ति की ऑफिस प्रदान नहीं करती। एक ही पद प्रस्थिति एवं ऑफिस दोनों ही हो सकता है जैसे राजस्थान विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर का पद आफिस एवं प्रस्थिति दोनों ही हैं।

स्थिति संकुल (Status complex) – प्रो. डेविस कहते हैं कि एक व्यक्ति समाज में केवल एक ही प्रस्थिति या ऑफिस ग्रहण नहीं करता है वरन् अनेक प्रस्थितियां एवं ऑफिस प्राप्त करता है। व्यक्ति द्वारा प्राप्त इन विभिन्न प्रस्थितियों एवं ऑफिसों के योग को स्थिति–संकुल कहते हैं। इस प्रकार स्थिति–संकुल अनेक प्रस्थितियों एवं ऑफिसों का एक गुच्छा है जिस पर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है और इसे सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होती है। स्थिति–संकुल एक सीमा तक स्थायित्व रखने वाली प्रस्थितियों का योग है।

स्तर (स्तुत) (Stratum) – स्तर का संबंध ही प्रकार के स्थिति–संकुल को प्राप्त करने वाले विभिन्न लोगों से है। स्तर या स्ट्रेटम का तात्पर्य एक समाज में करीब–करीब समान स्थिति–संकुल अर्थात् समान प्रस्थितियों तथा पदों की समग्रता वाले व्यक्तियों के जनसमूह से है। अन्य शब्दों में एक प्रकार की स्थिति–संकुल को धारण करने वाले सभी व्यक्ति मिलकर एक स्तर का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ, सभी क्लर्क, अध्यापक, पूंजीपति एवं श्रमिक आदि मिलकर अलग अलग स्तरों का निर्माण करते हैं।

स्तर किसी भी सामाजिक ढांचे का प्रमुख आधार होता है और समूह की विशेषताओं को प्रकट करता है। यह समाज में स्तरीकरण को जन्म देता है। एक स्तर के लोगों के स्वार्थ, समस्यायें एवं विश्व दृष्टिकोण समान होते हैं और उनमें दृढ़ता दिखायी देती है। एक स्तर के लोग दूसरे स्तर के लोगों से अपनी रक्षा के लिए नियम एवं संगठन बनाते हैं। उनमें एकता पायी जाती है जिसे दृढ़ता या स्थिति–समूह दृढ़ता कहते हैं।

प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रेणी (Prestige, steem and Rank)

प्रस्थिति के समान अर्थों में कई बार प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रेणी शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है किन्तु इन सभी में स्पष्ट अंतर है।

प्रतिष्ठा (Prestige) – समाज में प्रत्येक प्रस्थिति की एक प्रतिष्ठा होती है, एक मूल्य होता है। समाज में किसी प्रस्थिति को अधिक महत्व दिया जाता है तो किसी को कम, किसी को अच्छा तो किसी को बुरा, किसी को उन्नतिशील तो किसी को शोषित समझा जाता है। इस प्रकार समाज में प्रत्येक प्रस्थिति के प्रति लोगों में आदर एवं श्रद्धा की अलग–अलग मात्रा पायी जाती है, उसे ही उस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए, समाज में डॉक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक एवं उद्योगपति की प्रतिष्ठा एक अकुशल श्रमिक एवं चपरासी से अधिक है। एक प्रस्थिति को धारण करने पर व्यक्ति उससे संबंधित प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है। प्रतिष्ठा का संबंध व्यक्ति से न होकर प्रस्थिति से है। समाज ही किसी प्रस्थिति का मूल्यांकन कर उसे कम या अधिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

सम्मान (Esteem)– एक ही प्रस्थिति धारण करने वाले सभी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों, दायित्वों एवं भूमिकाओं का निर्वाह समान रूप से नहीं करते हैं, अतः उनकी प्रतिष्ठा समान होते हुए भी उनके सम्मान में अंतर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, दक्ष एवं दयालु डाक्टर का सम्मान साधारण डॉक्टर से अधिक होता है। इस प्रकार सम्मान का संबंध एक पद पर कार्य कर रहे व्यक्ति की सफलता–असफलता , दक्षता–अदक्षता एवं कार्य करने की क्षमता से होता है। इसीलिए एक व्यक्ति ऊँची प्रस्थिति पर होते भी कम सम्मानित हो सकता है एवं दूसरा व्यक्ति निम्न प्रस्थिति पर कार्य करने पर भी अधिक सम्मानित हो सकता है, यदि वह कर्तव्य–परायण और साथ ही अपने कार्य में दक्ष हो। इस प्रकार प्रतिष्ठा का संबंध प्रस्थिति से है। जबकि सम्मान का संबंध किसी भी प्रस्थिति को धारण करने वाले व्यक्ति की कार्यकुशलता, दक्षता, विशेषज्ञता, क्षमता, कर्तव्य–परायणता एवं सफलता से है।

श्रेणी (Rank)– समाज में पायी जाने वाली समान प्रतिष्ठा वाली स्थितियों की समग्रता को ही श्रेणी कहा जाता है। श्रेणी ही समाज में स्तरीकरण की प्रकृति को तय करती है तथा यह बताती है कि व्यक्ति किस सीमा तक अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका में परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्र है।

प्रस्थिति का संबंध सत्ता एवं शक्ति से भी है। 'शक्ति' का अर्थ एक व्यक्ति द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए दूसरों के व्यवहार पर नियंत्रण रखने की क्षमता में है। शक्ति का संबंध किसी प्रस्थिति या ऑफिस से न होकर व्यक्ति से होता है। शक्ति को जब संस्थात्मक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात जब शक्ति को कानून का जामा पहना दिया जाता है तो वह सत्ता कहलाती है। आय कर अधिकारी को कर वसूल करने की शक्ति सत्ता है क्योंकि यह सत्ता उसे एक विशिष्ट संस्था एवं कानून द्वारा प्राप्त होती है। एक व्यक्ति को प्राप्त सत्ता एवं शक्ति के स्रोत उसके पद, ऑफिस एवं भूमिकाएँ आदि होते हैं। समाज में किसी भी प्रस्थिति का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि उसे कितनी शक्ति या सत्ता प्राप्त है।

प्रस्थिति प्रतीक (Status symbol)– कई बार कुछ प्रस्थितियों को उनके प्रतीकों के आधार पर पहचाना जा सकता है। ये प्रतीक पोशाक, बैज, शृंगार के साधन अथवा कोई भी भौतिक सांस्कृतिक तत्व आदि हो सकते हैं। स्त्री पुरुष का भेद, आयु भेद, प्रजाति, जाति एवं व्यवसाय भेद को विभिन्न प्रतीकों के आधार पर जाना जाता है। उदाहरण के लिए, स्त्री व पुरुष की पोशाक अलग–अलग होती है। सैनिक व पुलिस कर्मचारी की प्रस्थिति को उनकी पोशाक एवं बैज के द्वारा, छात्रों को उनकी ड्रेस एवं बस्ते से, डाक्टर को उसके बैग एवं स्टेथेस्कोप द्वारा, एजेन्ट को उसके बैग द्वारा, अधिकारी एवं चपरासी को तथा ग्राहक एवं दुकानदार को उनके बैठने के स्थान द्वारा तथा विवाहित और अविवाहित स्त्री को मांग में भरे जाने वाले सिंदूर के आधार पर पहचाना जा सकता है।

मुख्य प्रस्थिति (Key status)– मुख्य प्रस्थिति की अवधारणा ई. टी. हिलर नामक समाजशास्त्री द्वारा दी गयी है। व्यक्ति अपने जीवन में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है। किंतु इनमें से किसी एक का ही अधिक महत्व होता है। बीरस्टीड कहते हैं, प्रमुख प्रस्थिति वह है जो दूसरी प्रस्थितियों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण एवं अग्रणीय होती है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में व्यवसाय ही व्यक्ति की प्रमुख प्रस्थिति को निर्धारण करता है। जब एक व्यक्ति से हम मिल जाते हैं तो यह देखते हैं कि वह व्यापारी, क्लर्क, डाक्टर, अध्यापक, इंजीनियर, श्रमिक आदि क्या है? मुख्य प्रस्थिति के आधार पर व्यक्ति की वर्ग प्रस्थिति भी ज्ञात हो जाती है। कुछ समाजों में मुख्य प्रस्थिति का आधार नातेदारी, राजनीति, धर्म एवं जाति आदि है। आदिम समाजों में आयु, लिंग एवं नातेदारी मुख्य प्रस्थिति को निर्धारित करते हैं। भारत में जाति तथा रूप में व्यक्ति को राजनीतिक स्थिति मुख्य प्रस्थिति के निर्धारण में प्रमुख है। मुख्य परिस्थिति के आधार पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है।

प्रस्थिति संबंध (Status relations)– वीरस्टीड ने कुछ प्रस्थिति संबंधों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कई प्रस्थितियाँ जोड़े के रूप में होती हैं, जैसे माता–पिता एवं संतान, पति–पत्नी, दुकानदार–ग्राहक, अध्यापक–छात्र, डाक्टर–मरीज, किरायेदार–मकान मालिक, भाई–बहिन आदि। इससे स्पष्ट है कि जटिल

सभाओं में लोगों के पारस्परिक संबंध व्यक्ति पर नहीं वरन् प्रस्थिति पर निर्भर होते हैं और प्रत्येक प्रस्थिति जोड़े के साथ कुछ मानदंड भी जुड़े होते हैं।

प्रस्थिति संघर्ष और विपर्यय (Status conflict and reversals) – जब एक ही व्यक्ति दो इस प्रकार की प्रस्थितियाँ धारण किये हुए होता है। जिसके मानदंड एक दूसरे से भिन्न होते है। और एक के मानदंडों का पालन करने पर दूसरे के मानदंडों की अवज्ञा होती है तो यह स्थिति प्रस्थिति संघर्ष कहलाती है। उदाहरणार्थ, भारत में एक राज्य कर्मचारी किसी भी राजनीतिक दल की चुनाव गतिविधियों में भाग नहीं ले सकता किंतु दूसरी ओर उसे देश का नागरिक होने के नाते ऐसा करने का अधिकार है। इसी प्रकार से एक प्रस्थिति से संबंधित विशेषाधिकारों एवं कर्तव्यों में कभी–कभी विपर्यय पाया जाता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति देश में सर्वोच्च राजनीतिक पद पर है और वह केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए कई आदेश देता है किंतु कई बार उसे स्वयं को सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तचर विभाग की आज्ञा माननी पड़ती है। अतः कई बार एक व्यक्ति को भिन्न प्रस्थितियों को धारण करने पर विपरीत संबंधों को निभाना होता है।

प्रस्थिति प्रतिमान एवं प्रस्थिति क्रम (Status set and status Sequence) – एक समय में एक व्यक्ति कई प्रस्थितियां धारण करता है। उसे ही मर्टन ने प्रस्थिति–प्रतिमान कहा है। एक व्यक्ति डॉक्टर, पिता–पुत्र, भाई एवं मामा आदि सभी प्रस्थितियों को एक साथ धारण करता है, ये सभी मिलकर उसके प्रस्थिति प्रतिमान को बनाते हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन काल में एक के बाद एक कई प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है, उसे प्रस्थिति क्रम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक छात्र आगे चलकर क्लर्क, अधिकारी और फिर मैनेजर बनता है तो ये सभी पद उसे एक के बाद एक प्राप्त होते जाते हैं। ये ही उस व्यक्ति का प्रस्थिति–क्रम बनाते हैं।

सामाजिक प्रस्थितियों के प्रकार (Kinds of social statuses)

सन् 1936 में राल्फ लिंटन ने समाज में पायी जाने वाली प्रस्थितियों को प्रमुख रूप से दो भागों– प्रदत्त तथा अर्जित में विभक्त किया। हम यहाँ इन दोनों का ही उल्लेख करेंगे।

प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status)

समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के गुणों पर ध्यान दिये बिना ही उसको स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को किसी परिवार विशेष में जन्म लेने व परंपरा आदि के कारण प्राप्त होती है और बच्चे को उस समय प्रदान कर दी जाती है जबकि उसके व्यक्तित्व के बारे में समाज कुछ नहीं जानता। समाज में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पहले से ही मौजूद होती है जो नवीन जन्म लेने वाले प्राणी को प्रदान कर दी जाती है। प्रस्थितियाँ बच्चे के द्वारा भविष्य में प्राप्त किये जाने वाली प्रस्थितियों की सीमा तथा रूप भी निश्चित करती है। विश्व के सभी समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पायी जाती है। प्रदत्त प्रस्थिति पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता जैसे स्त्री या पुरुष होना, बालक या युवा होना, सुंदर व कुरूप तथा लंबा व छोटा होना। लिंग भेद, आयु, नातेदारी, प्रजाति, जाति, परिवार में बच्चों की कुल संख्या, गोद लेने, माता–पिता की मृत्यु तथा विवाह–विच्छेद आदि व्यक्ति की इच्छा का कोई ध्यान नहीं रखते हुए उसको एक प्रस्थिति प्रदान करते हैं। इन सब के आधार पर प्राप्त प्रस्थितियाँ प्रदत्त प्रकार की होती है। आधुनिक समाजों की तुलना में आदिम एवं परंपरागत्मक समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियाँ अधिक पायी जाती है।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Bases of determination of Ascribed status)

किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण अनेक आधारों पर होता है। प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार हैं–

1. लिंग भेद (sex dichotomy)– लिंग निश्चित प्रत्यक्ष तथा स्थायी शारीरिक लक्षण है, लगभग सभी संस्कृतियों में स्त्री एवं पुरुष की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में अंतर पाया जाता है। प्रायः स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की प्रस्थिति ऊँची मानी जाती है। सामान्यतः स्त्रियों को कमजोर, कोमल, भावुक, सहज विश्वासी, धार्मिक माना जाता रहा है। दूसरी और पुरुषों को साहस, वीरता, तर्क एवं शौर्य का प्रतीक माना गया है। यही कारण है कि स्त्रियों को छोटे मोटे घरेलू कार्य जैसे सिलाई, बर्तन बनाना, खाना बनाना एवं बच्चों के पालन पोषण का कार्य सौंपा गया है जबकि पुरुष पशु चारण, मछली मारने, शिकार व युद्ध करने आदि के कार्य करते रहे हैं। जिनमें अधिक शारीरिक शक्ति एवं साहस की आवश्यकता होती है। कई आदिम समाजों में स्त्रियाँ धार्मिक एवं जादुई क्रियाओं में भाग नहीं ले सकती थी। नीलगिरि की टोडा जनजाति में स्त्रियों को भैंस पालन का कार्य करने की मनाही है। स्त्री एवं पुरुषों में श्रम–विभाजन विभिन्न संस्कृतियों में समान नहीं है। एक समाज में एक प्रकार का कार्य पुरुषों के लिए निर्धारित है तो वही कार्य दूसरे समाज में स्त्रियों के लिए। स्त्री एवं पुरुषों के कार्य–विभाजन का आधार संभवतः यह माना जाता है कि उनके आनुवंशिकता से प्राप्त चारित्रिक लक्षण भिन्न भिन्न होते हैं, जिसके कारण उनका सामाजिक व्यवहार भी भिन्न होता है। स्त्री–पुरुषों में पायी जाने वाली शारीरिक रचना की भिन्नता भी उनके कार्यों में भिन्नता पैदा करती है। नारी को प्रजनन का कार्य करना पड़ता है, अतः उसे ऐसे कार्य सौंपे गये हैं जो प्रजनन क्रिया के अनुकूल है। इसलिए ही उन्हें युद्ध, शिकार एवं शक्ति के कार्यों के स्थान पर बच्चों के लालन–पालन से संबंधित एवं घरेलू कार्य सौंपे गये हैं जिससे कि गर्भकाल में उन पर विपरीत प्रभाव न पड़े और वे घर के नजदीक रहें। इस प्रकार हम देखते हैं कि कई प्रदत्त एवं अर्जित पद यौन–भेद पर आधारित है।

स्त्री एवं पुरुषों की प्रस्थितियों में सांस्कृतिक कारणों से भी भिन्नता पायी जाती है। सदैव ही पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को निम्न स्थान नहीं दिया जाता है। भारत में गारो खासी तथा नायर मातृ–सत्तात्मक परिवारों में पुरुषों की तुलना में स्त्री की प्रस्थिति ऊँची है वही परिवार की सुविधा होती है, संपत्ति एवं धार्मिक

कार्यों में वही प्रधान होती है वंश एवं उत्तराधिकार भी स्त्रियों के आधार पर ही तय किये जाते हैं। वर्तमान समय में स्त्री एवं पुरुषों को कुछ कार्यों को छोड़कर, शेष में समान रूप से नौकरी के अवसर प्रदान किये जाते हैं। फिर भी यह बात संदेहपूर्ण प्रतीत होती है कि लिंग विभेद के आधार पर श्रम–विभाजन एवं पदों की प्राप्ति कभी समाप्त हो सकेगी।

2. आयु भेद (age differences)– लिंग भेद की भांति आयु–भेद भी निश्चित एवं स्पष्ट शारीरिक लक्षण है किंतु आयु एक परिवर्तनशील तथ्य भी है। विश्व की सभी संस्कृतियों में आयु के आधार पर प्रस्थिति भेद पाया जाता है। आयु का विभाजन शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध आदि स्तरों में किया जा सकता है। समाज में अलग–अलग आयु के लोगों को विभिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है तथा एक विशेष प्रस्थिति के लिए निश्चित आयु का होना भी आवश्यक है। बड़े भाई एवं छोटे भाई का भेद आयु पर निर्भर है। प्रायः बच्चों की तुलना में वृद्ध लोगों को समाज में अधिक सम्मान दिया जाता है। इसका कारण आयु के अतिरिक्त यह भी है कि उन्हें जीवन का अनुभव अधिक होता है तथा वे परंपरा एवं संस्कृतिक के रक्षक माने जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति के लिए कम से कम 35 वर्ष की आयु होना आवश्यक है। इसी प्रकार से मत देने, उम्मीदवार होने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए भी एक निश्चित आयु प्राप्त करना आवश्यक है। हिन्दू संयुक्त परिवार का मुखिया वयोवृद्ध पुरुष ही होता है। भारत में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के विभाजन का मूल आधार आयु ही है। आयु के आधार पर प्रस्थिति का विशुद्ध रूप तक दिखायी पड़ता है जब उस पद को प्राप्त करने के लिए अन्य तत्वों का कोई हाथ न हो।

किंतु सदैव ही प्रस्थिति निर्धारण में आयु ही महत्वपूर्ण नहीं होती है वरन् उसके साथ लिंग, व्यक्ति के गुण, नातेदारी, क्षमता, शिक्षा, संपत्ति तथा सांस्कृतिक आधार भी जुड़े होते हैं। यही कारण है कि एक ही आयु के होने पर भी लोगों को भिन्न भिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है। जिन समाजों में आजीविका प्राप्त करना कठिन होता है, वहां युवा लोगों का अधिक महत्व होता है। एस्कीमो लोगों में वृद्ध व्यक्ति की हत्या करना नैतिक दायित्व माना जाता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण में आयु के महत्वपूर्ण तथ्य होते हुए भी इसे एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता।

3. नातेदारी (kinship)– व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त होती है। एक व्यक्ति का अपने माता–पिता एवं रक्त संबंधियों से संबंध होता है, उनसे संबंधित होने के कारण ही वह अनेक प्रस्थितियां प्राप्त करता है। नातेदारी से संबंधित प्रस्थितियाँ प्रदत्त होती है क्योंकि हम हमारे माता–पिता एवं भाई–बहिन का चयन नहीं करते। नातेदारी जैविकीय एवं सांस्कृतिक दोनों ही तथ्यों का मिश्रित रूप है। समाज में हमें कई पद माता–पिता के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। राजा का पुत्र राजपद ग्रहण करता है, हम अपने माता–पिता का वर्ग, धर्म और कभी कभी व्यवसाय भी ग्रहण करते हैं। भारत में जाति का आधार जन्म ही है। माता, पिता, भाई, बहिन, चाचा, मामा, जीजा, साला, दादा, दादी, सास–सुसर आदि सभी प्रस्थितियाँ नातेदारी के आधार पर ही तय होती है। नातेदारी के साथ व्यक्ति के कुछ अधिकार एवं दायित्व भी जुड़े होते हैं। समाज में माता–पिता की सामाजिक स्थिति के आधार पर ही बच्चे का भी मूल्यांकन किया जाता है और उनकी उच्च एवं निम्न स्थिति के अनुसार बच्चे को भी सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि प्राणीशास्त्रीय रूप से बच्चे की विशेषताओं को माता–पिता की विशेषताओं के समान समझा जाता है और बच्चे के समाजीकरण के दौरान भी उनका मुख्य हाथ होता है।

4. जन्म (Birth)– व्यक्ति का जन्म किस परिवार, जाति अथवा प्रजाति में हुआ है, इस आधार पर भी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। शाही घराने एवं उच्च जाति में जन्म लेने वाले की सामाजिक प्रस्थिति निम्न परिवारों के लोगों की तुलना में ऊँची रही है।

5. शारीरिक विशेषताएँ (Physical abilities)– कई प्रस्थितियां व्यक्ति को उसकी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर प्रदान की जाती है। काले एवं कुरूप की तुलना में सुंदर, निर्बल की तुलना में शक्तिशाली तथा बीमार, लूले–लंगड़े एवं अपंग व्यक्ति की तुलना में स्वस्थ एवं सक्षम व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

6. जाति एवं प्रजाति (Caste and Race)– भारत में जाति व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण का मुख्य आधार है।

अर्जित प्रस्थिति (Achieved status)

दूसरी ओर समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें व्यक्ति अपने गुण, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर ग्रहण करता है। ये अर्जित प्रस्थितियां कहलाती हैं। हार्टन एवं हंट के अनुसार, 'एक सामाजिक पद जिसे व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा प्राप्त करता है अर्जित प्रस्थिति के नाम से जाना जाता है।'' अर्जित प्रस्थितियों के लिए समाज में प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है और योग्य एवं सक्षम व्यक्ति इन प्रस्थितियों को प्राप्त कर लेते हैं। शिक्षा, व्यवसाय, संपत्ति संचय, विवाह, श्रम–विभाजन आदि का संबंध अर्जित प्रस्थितियों से ही है। व्यक्ति की सफलता एवं असफलता के आधार पर भी उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। साधारणतः दयालु, बुद्धिमान, योग्य, प्रतिभाशाली, साहसी एवं शक्तिशाली व्यक्ति को सभी महत्व देते हैं। प्रो. डेविस कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति समाज में सदैव होते हैं जो इतने चतुर, प्रतिभाशाली, शक्तिशाली, क्षमताशील एवं महत्वाकांक्षी होते हैं कि अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करके वे समाज के नेता बन जाते हैं। प्रत्येक देश एवं प्रत्येक समाज का इतिहास उनके अमर नामों से जगमगाता रहता है। वे इतिहास का निर्माण करते हैं, वे अन्य व्यक्तियों पर नियंत्रण रखने तथा समाज में परिवर्तन लाने में सक्षम होते हैं। अतः समाज में वे अपना

महत्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं। इस संदर्भ में अनेक नेताओं के उदाहरणों से स्पष्ट है जो सामान्य व्यक्ति होते हुए भी अपने प्रयत्नों के कारण उच्च सामाजिक–राजनीतिक प्रस्थिति प्राप्त कर सके हैं। जिन प्रस्थितियों के लिए असामान्य प्रतिभा या योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, वे सबके द्वारा अर्जित किये जा सकने के लिए स्वतंत्र रखी जाती है। आधुनिक समाज में जहाँ जन्म के स्थान पर व्यक्ति के गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है अर्जित प्रस्थितियाँ अधिक पायी जाती है।

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Basis of determination of achieved status)

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार है–

1. संपत्ति (Wealth) – व्यक्ति के पद का निर्धारण करने में संपत्ति एक महत्वपूर्ण कारक है। संपत्ति पर अधिकार होने या न होने के आधार पर ही व्यक्ति की ऊँची या नीची प्रस्थिति होती है। अक्सर गरीब की तुलना में पूंजीपति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है। आधुनिक युग में जिन लोगों के पास भौतिक सुख–सुविधाएं अधिक हैं, वे ऊँचे माने जाते हैं। मात्र संपत्ति से ही व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित नहीं होती है वरन् यह भी देखा जाता है कि वह संपत्ति किस प्रकार से अर्जित की गयी है। ईमानदार पूंजीपति की प्रस्थिति काला–बाजारी, स्मगलिंग एवं अनैतिक तरीके के धन कमाने वाले की तुलना में ऊँची होती है। किंतु कई बार संपत्ति त्यागने वाले को भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

2. व्यवसाय (Profession) – व्यवसाय भी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति निर्धारित करता है। आई ए एस, डॉक्टर, इंजीनियर आदि का पद चपरासी, मिल मजदूर, कृषक एवं जूते ठीक करने वाले से ऊँचा माना जाता है।

3. शिक्षा (Education) – अशिक्षित की तुलना में शिक्षित का तथा कम पढ़े–लिखे व्यक्ति की तुलना में बी. ए., एम. ए. तथा अन्य डिप्लोमा और प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है।

4. राजनीतिक सत्ता (Political authority)– राजनीतिक सत्ता के आधार पर ही शासक एवं शासित में भेद किया जाता है। साधारण–जन की अपेक्षा सत्ता एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है। प्रजातंत्र में शासक दल से संबंधित लोगों एवं विरोधी दल के प्रमुख नेताओं की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

5. विवाह (Marriage)– विवाह भी व्यक्ति को कई प्रस्थितियाँ प्रदान करता है। विवाह करने पर ही पति–पत्नी, माता–पिता एवं अन्य प्रस्थितियाँ जैसे जीजा, जंवाई, बहू, भाभी आदि प्राप्त की जाती है। विधवा या विधुर होने, सजाति एवं अन्तर्जातीय विवाह करने, एक विवाह एवं बहु–विवाह करने आदि के आधार पर भी समाज में भिन्न भिन्न सामाजिक प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है।

6. उपलब्धियाँ (Achievements)– व्यक्ति द्वारा परिश्रम करके प्राप्त विभिन्न उपलब्धियां भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करती है। ये उपलब्धियां धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं खेलकूद आदि के क्षेत्र में हो सकती है। इसीलिए अच्छे खिलाड़ी, वैज्ञानिक, आविष्कारकर्त्ता, श्रेष्ठ साहित्यकार, संगीतकार, कलाकार, कवि आदि की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

7. प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण के उपर्युक्त आधारों का काफी महत्व है। परंतु समाज विशेष में प्रदत्त प्रस्थिति–निर्धारण के क्या आधार होंगे, यह बहुत कुछ सीमा तक समाज की सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। किसी समाज में धन को किसी में आध्यात्मिक प्रगति को और किसी अन्य में वीरता को, साहसिक कार्यों को विशेष महत्व दिया जाता है। जहाँ जिस कारक पर ज्यादा जोर दिया जाता है, वहाँ वही कारक या आधार प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में अनेक कारकों का हाथ है। प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के लिए उपयुक्त कारकों में से लिंग–भेद, आयु भेद, नातेदारी, जन्म, शारीरिक विशेषताएँ, जाति एवं प्रजाति उत्तरदायी है। अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण में संपत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, राजनीतिक सत्ता, विवाह एवं उपलब्धियों का विशेष महत्व है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों में अंतर (Difference between ascribed and achieved statuses)

दोनों प्रकार की प्रस्थितियों को स्पष्टतः समझने के लिए इनमें पाये जाने वाले अंतरों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे–

1. प्रदत्त प्रस्थिति समाज स्वयं व्यक्ति को प्रदान करता है जबकि अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता प्रयत्न एवं प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर प्राप्त करता है।
2. प्रदत्त प्रस्थिति का स्रोत समाज की प्रथाएँ, परंपराएं एवं संस्कृति आदि है जबकि अर्जित प्रस्थिति का स्रोत स्वयं व्यक्ति और उसके गुण हैं।
3. प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण जन्म लिंग, आयु, जाति, प्रजाति, नातेदारी, परिवार आदि के आधार पर होता है जबकि अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण शिक्षा, आय, संपत्ति, व्यवसाय, व्यक्तिगत योग्यता, कुशलता, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण, आविष्कार की क्षमता आदि के आधार पर होता है।
4. प्रदत्त प्रस्थिति के आधार अपेक्षाकृत स्थायी है, उनमें परिवर्तन नहीं या बहुत कम होते हैं। इसलिए उनके द्वारा प्राप्त प्रस्थितियाँ भी अपेक्षतया स्थायी होती हैं जबकि अर्जित प्रस्थितियों के आधारों के परिवर्तनशील होने से अर्जित प्रस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं।
5. प्रदत्त प्रस्थितियाँ अनिश्चित होती हैं तथा उनका अधिकार–क्षेत्र अधिक स्पष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ, पिता के अधिकारों की सीमा निर्धारित नहीं है, त्वचा की सुंदरता

को अंशों में मापा नहीं जा सकता, नातेदारों से प्राप्त अधिकार एकदम स्पष्ट नहीं है जबकि अर्जित पद अधिक निश्चित एवं स्पष्ट होते हैं। एक जज, प्राचार्य और राष्ट्रपति के क्या अधिकार हैं, यह कानून और संविधान द्वारा स्पष्ट है।

6. प्रदत्त प्रस्थितियों का आदिम, परंपरागत समाजों में अधिक महत्व पाया जाता है क्योंकि यहाँ प्रथाओं एवं परंपराओं का अधिक प्रभाव होता है। इसके विपरीत, अर्जित प्रस्थितियों का आधुनिक समाजों में अधिक महत्व है क्योंकि वहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुणों द्वारा होता है।
7. फिचर का मत है कि प्रदत्त प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका में सामंजस्य होना आवश्यक नहीं है जबकि अर्जित प्रस्थितियों में अधिकांशतः दोनों में सामंजस्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि एक व्यक्ति पिता होने पर भी अपने बच्चों के लालन–पालन पर समुचित ध्यान न दे किंतु ऐसा नहीं होता है कि प्रशिक्षण प्राप्त डॉक्टर चिकित्सा कार्य का, एक इंजीनियर सड़क या पुल निर्माण का कार्य न कर सके।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों में संबंध (Relation between ascribed and achieved statuses)

सैद्धांतिक रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होती है किंतु कार्यात्मक रूप में ये दोनों परस्पर पूरक है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में दोनों ही प्रकार की प्रस्थितियां पायी जाती हैं। प्रदत्त प्रस्थितियों का जीवन में पहला स्थान है क्योंकि (1) इनके द्वारा ही सांस्कृतिक विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। (2) ये ही व्यक्ति के सामान्य लक्ष्य को तय करती है जिनके आधार पर व्यक्ति को प्रशिक्षण दिया जाता है। (3) इनके द्वारा ही उन व्यक्तियों का निर्धारण होता है जो किसी पद पर कार्य करेंगे। (4) प्रदत्त प्रस्थिति के आधार पर ही एक व्यक्ति का लिंग, आयु–संबंध, वर्ग, धर्म, क्षेत्र, समुदाय तथा उसके माता–पिता का समुदाय जान लेने के बाद हम यह भली प्रकार जान सकते हैं कि उसका समाजीकरण और जीवन किस प्रकार का होगा। (5) प्रदत्त पद व्यक्ति को सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं जो अर्जित पद कभी प्रदान नहीं कर पाते। अर्जित प्रस्थितियां प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देती है लेकिन जीवन के सभी पक्ष प्रतिस्पर्द्धा का विषय नहीं बनाये जा सकते। मजदूर, व्यवसायी एवं पदाधिकारी सभी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके वर्ग में कम से कम प्रतियोगिता हो। स्वयं समाज भी कई अवसरों को टालने का प्रयास करता है। किंतु समाज में अर्जित पदों का महत्व भी कम नहीं है। अर्जित पदों के कारण ही (1) उचित व्यक्ति उचित पद पर पहुँच पाता है। (2) व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। (3) अर्जित प्रस्थितियां प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देती है जिसके कारण अकर्मण्यता और एकाधिकार की प्रवृत्ति पर रोक लगती है। (4) प्रदत्त प्रस्थिति–प्रधान समाज में व्यक्तित्व के विकास के अवसर कम होते हैं जबकि अर्जित प्रस्थिति–प्रधान समाज में व्यक्तित्व के विकास के अनेक अवसर उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति कठोर परिश्रम द्वारा अपनी योग्यता के अनुरूप पद प्राप्त कर सकता है। इससे समाज में संगठन एवं व्यवस्था बनी रहती है, व्यक्ति अपने कर्तव्य एवं दायित्वों के प्रति जागरूक रहता है। समाज व्यवस्था को जीवंत बनाये रखने में अर्जित प्रस्थितियों का विशेष योगदान है।

स्पष्ट है कि समाज में प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों का समान महत्व है और प्रदत्त प्रस्थिति के लिए कुछ अर्जित एवं अर्जित प्रस्थिति के लिए कुछ प्रदत्त गुणों का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, कोई राजा वंशानुगत अधिकार से जनता पर शासन करता है किंतु उसे राजा की तरह व्यवहार करना आना चाहिए। इसी प्रकार से अर्जित प्रस्थितियों को प्राप्त करने के लिए भी कुछ प्रदत्त गुणों का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, अमरीका के राष्ट्रपति का पद अर्जित है और कोई भी व्यक्ति चुनाव जीत कर राष्ट्रपति बन सकता है। फिर भी संविधान ने कुछ प्रतिबंधों की व्यवस्था की है, जैसे अमरीका के राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार अमरीका का नागरिक होना चाहिए और उसकी आयु 35 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार से कुछ प्रथागत सीमाएं भी हैं। लगभग सभी समाजों में अर्जित पदों के लिए कुछ सीमाएं होती हैं । इस प्रकार समाज में प्रत्येक पद अंशतः प्रदत्त और अंशतः अर्जित होता है।

ऑगबर्न और निमकॉफ का मत है कि, 'समाज व्यक्ति की अपेक्षा उसकी प्रस्थिति में अधिक रुचि रखता है।' किसी भी व्यक्ति का महत्व समाज में उसकी प्रस्थिति के आधार पर ही आँका जाता है। किसी महत्वपूर्ण पद पर रहने के कारण ही समाज व्यक्ति में रुचि रखता है और ज्यों ही वह उस पद से अलग हो जाता है, उसकी स्थिति परिवर्तित हो जाती है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुसार ही अपनी भूमिका निभाता है, उसी के अनुरूप उसे अधिकार एवं शक्ति प्राप्त होती है। प्रस्थिति ही व्यक्ति की क्षमता एवं योग्यता की परिचायक है। प्रस्थिति ही व्यक्ति की सामाजिक संरचना में स्थिति को प्रकट करती है। विभिन्न प्रस्थितियों के योग से ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी प्रस्थिति के आधार पर ही होता है।

भूमिका (Role)

भूमिका प्रस्थिति का गतिशील या व्यावहारिक पहलू है। प्रस्थितियाँ धारण की जाती है जबकि भूमिकाओं का निर्वाह किया जाता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार से एक प्रस्थिति से संबंधित दायित्वों का निर्वाह और उससे संबंधित सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का उपयोग करता है, उसे ही भूमिका कहते हैं। एक प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति जो कार्य करता है, वह उस पद की भूमिका है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति का पद एक प्रस्थिति है, इस प्रस्थिति से संबंधित कुछ दायित्व तथा कर्तव्य हैं, ये ही राष्ट्रपति की भूमिका के अंतर्गत आयेंगे। राष्ट्रपति की

भूमिका निभाने वाले को कुछ सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं।

भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of role)

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''भूमिका किसी भी व्यक्ति का समूह में वह अपेक्षित कार्य या व्यवहार है जो समूह या संस्कृति के द्वारा परिभाषित किया गया है।

डेविस कहते हैं, ''भूमिका वह ढंग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

इलियट व मेरिल के अनुसार, ''भूमिका वह कार्य है जिसे वह (व्यक्ति) प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।

लिंटन के अनुसार, ''भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अंतर्गत उन सभी अभिवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति या व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं।'

हार्टन एवं हंट लिखते हैं, ''एक विशिष्ट सामाजिक पद धारण करने के फलस्वरूप व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसे भूमिका कहते हैं।''

ब्रूम तथा सेल्जनिक के अनुसार ''एक विशिष्ट सामाजिक पद से संबंधित व्यवहार के प्रतिमान को भूमिका के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, ''भूमिका एक समूह में एक विशिष्ट पद से संबंधित सामाजिक प्रत्याशाओं एवं व्यवहार प्रतिमानों का एक योग है जिसमें कर्तव्यों एवं सुविधाओं दोनों का समावेश होता है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एक प्रस्थिति धारण करने के कारण समाज जिस प्रकार के कार्यों की व्यक्ति से अपेक्षा करता है, वही भूमिका कहलाती है। भूमिका प्रस्थिति का व्यवहारात्मक एवं गत्यात्मक पहलू है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संबंधित भूमिका का निर्वाह कैसे करेगा, यह कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे वह अपने कर्तव्यों के प्रति कितना जागरूक है, अपने दायित्व निर्वाह के लिए कितना कठिन परिश्रम करता है, उसमें कर्तव्य निष्ठा कितनी है, वह समाज के आदर्श नियमों के प्रति कितना सजग है और एक साथ कितनी भूमिकाएँ निभा रहा है, आदि। अधिक क्षमता एवं अनुभव रखने वाला व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह अच्छी प्रकार से करता है। आनुवांशिकता भी व्यक्ति की भूमिका निर्वाह की क्षमता को प्रभावित करती है। कोई भी व्यक्ति किसी पद पर कब तक बना रहेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपनी भूमिका का पालन कितनी कार्य कुशलता से करता है।

समाज में कोई भी भूमिका अकेली या एकपक्षीय नहीं होती है। प्रत्येक भूमिका का महत्व अन्य प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के संदर्भ में ही होता है। उदाहरणार्थ,एक अध्यापक अपनी भूमिका छात्रों के संदर्भ में, एक डाक्टर अपनी भूमिका रोगियों के संदर्भ में और एक राजा अपनी भूमिका प्रजा के संदर्भ में ही निभाता है। एक व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है, उसके अनुसार ही वह अलग–अलग प्रकार की भूमिकाएँ भी निभाता है। एक प्रस्थिति विशेष को धारण करने पर व्यक्ति किसी प्रकार की भूमिका निभायेगा, यह उस समाज की संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा तय होता है। समाज एवं संस्कृति ही किसी भूमिका से संबंधित दायित्वों एवं अधिकारों को तय करते हैं। एक व्यक्ति एक समय में अनेक सामाजिक स्थितियों में होने पर अलग अलग प्रकार के कार्य करता है। सभी स्थितियों में एक–सी भूमिका निभाने वाले व्यक्ति जीवन में असफल होते देखे गये हैं। प्रत्येक प्रस्थिति से संबंधित एक विशिष्ट भूमिका होती है। यदि उसका निर्वाह उचित रूप से नहीं होता है तो समाज में असंतुलन एवं विघटन पैदा होता है। अतः प्रस्थिति और भूमिका निर्वाह के बीच संतुलन एवं सामंजस्य होना आवश्यक है।

भूमिका की विशेषताएँ (Characteristics of role)

भूमिका को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करेंगे :

1. भूमिका का संबंध उन व्यवहारों की संपूर्णता से है जिनकी एक विशिष्ट प्रस्थिति धारण करने के कारण समूह अथवा समाज द्वारा अपेक्षा की जाती है।
2. भूमिका का निर्धारण संस्कृति एवं सामाजिक मानदंडों के आधार पर होता है।
3. समाज में कोई भी भूमिका अकेली या एकपक्षीय नहीं होती है वरन् वह सदैव दूसरी प्रस्थितियों या भूमिकाओं के संदर्भ में ही निभायी जाती है।
4. भूमिका का संबंध प्रस्थिति के साथ जुड़ा होता है। चूंकि प्रस्थितियाँ 'प्रदत्त' और 'अर्जित' दो प्रकार की हैं, अतः भूमिकाएँ भी प्रदत्त और अर्जित होती हैं।
5. भूमिका गतिशील और परिवर्तनशील है। एक ही भूमिका विभिन्न लोगों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से निभायी जाती है और विभिन्न समयों एवं संस्कृतियों में अलग–अलग प्रकार से निभायी जाती है।
6. प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह स्वयं की योग्यता, क्षमता, रुचि, मनोवृत्ति आदि के आधार पर ही करता है।
7. व्यक्ति समाज में अनेक भूमिकाएँ निभाता है किंतु जिस भूमिका के कारण वह समाज में जाना जाता है, वह उसकी 'मुख्य भूमिका' कहलाती है। अन्य छोटी मोटी भूमिकाओं को 'सामान्य भूमिकाएँ' कहते हैं।
8. अलग–अलग भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता है। सभी भूमिकाओं का निर्वाह एक ही प्रकार के व्यवहार द्वारा नहीं किया जाता।
9. प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ न कुछ अधिकार एवं सुविधाएँ जुड़ी होती है।

भूमिका से संबंधित कुछ अवधारणाएँ
(Few concepts related to role)

1. भूमिका पालन (Role playing) – जब एक व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के अनुरूप अपनी भूमिका निभाता है तो उसे 'भूमिका पालन' करना कहा जाता है। समाज में पंडित, पादरी, पिता, पुत्र, अध्यापक आदि सभी को हम अपनी अपनी भूमिका का पालन करते दिखते हैं।

2. भूमिका ग्रहण (Role taking)– इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति विशिष्ट भूमिकाओं को निभाना सीखता है। उदाहरण के लिए, सेना में भर्ती होने पर एक व्यक्ति सैनिक की भूमिका निभाना सीखता है।

3. अभिनय की भूमिका (Playing at role)– इस प्रक्रिया में व्यक्ति किसी अन्य पात्र की भूमिका का अभिनय करता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति रामलीला या कृष्णलीला में राम, रावण, कृष्ण अथवा कंस की भूमिका का अभिनय करता है तो उसे अभिनय की भूमिका कहते हैं।

4. भूमिका वंचन (Role dispossession)– जब एक व्यक्ति एक प्रस्थिति को छोड़कर दूसरी प्रस्थिति धारण करता है तो उसे अपनी पहले की प्रस्थिति से संबंधित भूमिका त्यागनी पड़ती है। इसे ही भूमिका वंचन कहते हैं। एक भूमिका को त्याग कर दूसरी भूमिका ग्रहण करने के बीच की स्थिति को भूमिका संक्रमण कहते हैं।

5. असफल भूमिका (Role failure) – जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभाने में असफल रहता है तो उसे 'असफल भूमिका' कहा जाता है। स्थिर एवं संगठित समाजों में जहां प्रदत्त भूमिकाएँ अधिक होती है, भूमिकाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक किया जाता है किंतु परिवर्तनशील एवं असंगठित समाजों में जहां अर्जित भूमिकाएँ अधिक होती है, भूमिका निर्वाह में असफलता, भी अधिक पायी जाती है। प्रत्येक प्रकार की भूमिका के सफल निर्वाह के लिए विशेष प्रकार के गुणों की आवश्यकता है।

6. भूमिका प्रत्याशा (Role expectation)– एक पद या प्रस्थिति धारण करने के फलस्वरूप समाज व्यक्ति से जिस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा करता है, उसे भूमिका–प्रत्याशा कहते हैं। कई बार भूमिका–प्रत्याशा और व्यक्ति द्वारा निभायी जाने वाली वास्तविक भूमिका में अंतर होने पर समाज में अव्यवस्था पैदा हो जाती है।

7. भूमिका संघर्ष (Role conflict)– कई बार व्यक्ति को दो भिन्न परिस्थितियों की भूमिका एक साथ निभानी होती है और यदि उनमें विरोधाभास है तो उसे हम भूमिका–संघर्ष कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक न्यायाधीश के सम्मुख उसके पुत्र को ही अपराधी के रूप में लाया जाता है, तब वह इस उलझन में पड़ जाता है कि वह पिता के रूप में या न्यायाधीश के रूप में उसे दंड दे। इन दोनों भूमिकाओं को एक साथ निभाना कठिन है, यह प्रस्थिति भूमिका संघर्ष की स्थिति है। भूमिका–संघर्ष के लिए समाज में सांस्कृतिक मूल्य भी उत्तरदायी है। आधुनिक एवं परिवर्तनशील समाजों में भूमिका संघर्ष अधिक पाया जाता है क्योंकि यहाँ नवीन एवं पुराने मूल्य साथ–साथ चलते हैं। भूमिका–संघर्ष मानसिक तनाव पैदा करता है। लुण्डबर्ग कहते हैं कि भूमिका–संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति प्रभावशाली भूमिका को चुन लेता है और कमजोर भूमिका को छोड़ देता है तथा जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते, उनके व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है। भूमिका संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति किसी भूमिका का चयन करेगा व किसे छोड़ेगा, इसको तय करने के लिए समाज द्वारा प्राथमिकताओं की एक सूची बनी हुई है, उसी के अनुसार वह कम महत्वपूर्ण कार्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कार्य को करता है।

राबर्ट मर्टन ने भूमिका एवं प्रस्थिति से संबंधित तीन अवधारणाएँ– भूमिका प्रतिमान, प्रस्थिति प्रतिमान एवं प्रस्थिति शृंखला दी है। उनका हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

8. भूमिका प्रतिमान (Role set) – समाज में कोई भी भूमिका एकपक्षीय या पृथक् नहीं होती वरन् वह दूसरों के संदर्भ में ही होती है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संबंधित विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के साथ अलग अलग प्रकार की जो भूमिका निभाता है, उसकी संपूर्णता को ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक डॉक्टर, डॉक्टर होने के नाते दूसरे डॉक्टरों से, नर्सों से, मरीजों से एवं चिकित्सा अधिकारी से भिन्न भिन्न प्रकार की भूमिका निभाता है, उसे ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं। इसे हम एक अन्य उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए एक मंत्री है, मंत्री होने के नाते मुख्य मंत्री, अन्य मंत्रियों, जनता एवं प्रशासनिक अधिकारियों से भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है और सभी के साथ उसकी भूमिका भी अलग अलग होती है, इसे ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं।

9. प्रस्थिति प्रतिमान (status pattern)– एक व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुसार अलग–अलग भूमिकाएँ भी निभाता है। विभिन्न प्रस्थितियों की इस संपूर्णता को ही प्रस्थिति–प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति पिता, पति, भाई, वकील, ग्राहक, भू–स्वामी आदि अनेक प्रस्थितियां एक साथ धारण करता है। ये सभी प्रस्थितियाँ मिलकर उस व्यक्ति का प्रस्थिति–प्रतिमान कहलायेंगी।

10. प्रस्थिति शृंखला (status sequence)– व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियां धारण नहीं करता वरन् विभिन्न समयों में भी अलग अलग प्रस्थितियाँ धारण करता है। प्रस्थितियों के इस उत्तरोत्तर क्रम से एक शृंखला बन जाती है, उसे ही हम प्रस्थिति–शृंखला कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति आज छात्र है, कल वह किसी पंचायत का सरपंच बनता है, फिर विधायक, फिर संसद–सदस्य और राष्ट्रपति। प्रस्थितियों का यह क्रम ही प्रस्थिति शृंखला कहलाता है। हम एक डॉक्टर के भूमिका प्रतिमान,

एक अध्यापक के प्रस्थिति प्रतिमान और एक राष्ट्रपति की प्रस्थिति–शृंखला को चित्र द्वारा अग्र प्रकार से प्रकट कर सकते हैं :

चित्र 1. एक डॉक्टर का भूमिका प्रतिमान

चित्र 2. एक प्राध्यापक का प्रस्थिति प्रतिमान

चित्र 3. एक राष्ट्रपति की प्रस्थिति–शृंखला

प्रस्थिति व भूमिका का संबंध (Relation between status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका में सदैव भेद किया जाता है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, यह एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य है जबकि भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान का विषय एवं प्रघटना है। विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग अलग प्रकार से किया जाता है। इसका कारण है– व्यक्तियों के व्यक्तित्वों, क्षमता एवं व्यवहार में भिन्नता का होना। यही कारण है कि राष्ट्रपति या प्राचार्य के पद की भूमिका सभी लोग समान रूप से नहीं निभा पाते। प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है। इसका एक कारण यह भी है कि समूह एवं संगठन के विकास के साथ–साथ उनके पदाधिकारियों के कार्यों एवं दायित्वों में भी परिवर्तन आ जाता है। इसलिए कहा जाता है कि भूमिका प्रस्थिति का गतिशील पहलू है।

प्रस्थिति एवं भूमिका के संबंध सदैव स्थिर न होकर बदलते रहते हैं– नये विचारों, नये मूल्यों एवं मान्यताओं के साथ–साथ प्रस्थिति व भूमिकाओं के संबंध भी परिवर्तित होते रहते हैं। मजदूर एवं मालिक के संबंध जैसे मध्ययुग में थे वैसे आज के औद्योगिक युग में नहीं है। पति–पत्नी, माता–पिता और संतानों के संबंध, शासक और जनता के संबंध, गुरु और शिष्य के संबंध जैसे वैदिककाल में थे वैसे आज नहीं है। इनमें से कई प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा एवं भूमिकाओं में अंतर आया है।

प्रस्थिति एवं भूमिका का इतना घनिष्ठ संबंध है कि दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं, 'बिना प्रस्थिति के कोई भूमिका नहीं होती और बिना भूमिका के कोई प्रस्थिति नहीं होती। उदाहरण के लिए, यदि किसी संस्था में प्राचार्य की प्रस्थिति ही न हो तो कोई भी व्यक्ति बिना प्राचार्य की भूमिका निभाये प्राचार्य कैसे हो सकता है। किंतु बीरस्टीड इस मत से सहमत नहीं है। वे कहते हैं कि दोनों ही पृथक पृथक भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर द्वारा पद त्याग देने पर नये वाइस चांसलर की नियुक्ति तक प्रशासन द्वारा उसके कार्यों का बँटवारा कर दिया जाता है इस स्थिति में वाइस चांसलर की भूमिका निभाने वाले व्यक्ति को न तो हम वाइस चांसलर ही कह सकते हैं और न ही उसे वे सारी सुविधाएं ही प्राप्त होती है जो वास्तविक वाइस चांसलर को प्राप्त होती है।

इसी प्रकार से बिना एक प्रस्थिति को धारण किये भी एक व्यक्ति उस पद से संबंधित भूमिका निभा सकता है। उदाहरण के लिए, प्राचार्य के छुट्टी चले जाने पर अन्य प्राध्यापक उसकी भूमिका निभा सकता है। फिर भी वह प्राचार्य नहीं कहला सकता। इसलिए ही बीरस्टीड कहते हैं कि 'प्रस्थिति संस्थागत भूमिका है।' फिर भी प्रस्थिति और भूमिका एक दूसरे के पूरक और परस्पर संबंधित तथ्य है।

प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व (Sociological importance of status and role)

प्रस्थिति और भूमिका का वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से निम्नांकित महत्व है–

1. प्रस्थिति व भूमिकाएँ मिलकर ही समाज व्यवस्था का

निर्माण करते हैं और सामाजिक संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिए इनमें पारस्परिक संतुलन एवं ताल–मेल होना आवश्यक है।

2. प्रस्थिति व भूमिकाएँ समाज में श्रम–विभाजन कर सामाजिक कार्यों को सरल बना देती है।
3. ये समाज में सामाजिक नियंत्रण बनाये रखने में योग देते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका से संबंधित सामाजिक प्रतिमान एवं नियम होते हैं और व्यक्ति से उनके अनुरूप आचरण करने की अपेक्षा की जाती है।
4. ये व्यक्ति का समाजीकरण करने में भी योग देते हैं क्योंकि व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही ये समाज में विद्यमान होते हैं और व्यक्ति उनके अनुसार आचरण करना सीखता है।
5. प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति की क्रियाओं का मार्गदर्शन करते हैं और उसे बताते हैं कि किस प्रस्थिति में उसे किस प्रकार की भूमिका निभानी होगी।
6. इनके द्वारा हम किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का पूर्वानुमान लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति प्रधानमंत्री बनता है तो हम उसके कार्यों के बारे में पूर्वानुमान लगा सकते हैं और भविष्यवाणी कर सकते हैं क्योंकि संविधान एवं सामाजिक प्रथाओं द्वारा उसके कार्य निर्धारित कर दिये गये हैं।
7. भूमिकाओं के निर्वाह से समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ पूरी होती रहती है, इससे समाज में निरंतरता एवं स्थिरता बनी रहती है।
8. एक प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति को जन्म देते हैं। व्यापारी, अध्यापक, छात्र, सैनिक की मनोवृत्तियों के निर्धारण में उनकी प्रस्थिति एवं भूमिका का भी प्रभाव होता है।
9. प्रस्थितियां व्यक्ति में जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना पैदा करती है।
10. समाज में ऊँची एवं नीची प्रस्थितियाँ होती हैं। ये व्यक्ति को प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है और प्रयत्नों के कारण ही उसकी प्रगति संभव हो पाती है।

वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। इससे प्रस्थिति एवं भूमिका के पारस्परिक ताल–मेल में असंतुलन पैदा हो गया है। आज भूमिका–प्रत्याशा एवं भूमिका ग्रहण में काफी अंतर हो गया है। इसके कारण वैयक्तिक एवं सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। उदाहरण के लिए, छात्र, अध्यापक, राजनेता, न्यायाधीश, प्रशासक आदि सभी अपनी भूमिकाओं को उसी प्रकार नहीं निभा रहे हैं जिस प्रकार की उनसे अपेक्षा की जाती है। इसलिए ही समाज में असंतोष, अपराध एवं विघटन की प्रवृतियाँ बलवती होती दिखायी दे रही हैं, तथा वैयक्तिक एवं पारिवारिक विघटन की मात्रा बढ़ती जा रही है। समाज व्यवस्था की सुचारू रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक स्तर पर एवं सामाजिक स्तर पर प्रस्थिति एवं भूमिका में संतुलन बना रहे और लोग बदलती हुई सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप अपनी भूमिका निभाते रहें।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- समाज एक अमूर्त अवधारणा है, व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज कहा जाता है।
- समाज की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है, समाज के अंतर्गत अनेक समितियाँ, समूह, समुदाय, सम्मिलित होते हैं।
- समुदाय ऐसे व्यक्तियों का संकलन है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं तथा जिनके सदस्यों के मध्य हम की भावना पायी जाती है।
- समुदाय एक मूर्त अवधारणा है, समुदाय का स्वतः विकास होता है तथा इसके लक्ष्य व्यापक होते हैं।
- समूह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें व्यक्तियों के मध्य निश्चित प्रकार के सामाजिक संबंध पाये जाते हैं तथा समूह का प्रत्येक सदस्य समूह और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं।
- प्राथमिक समूह वे समूह है जिनके सदस्यों के मध्य प्रत्यक्ष, आमने–सामने के वैयक्तिक एवं घनिष्ठ सामाजिक संबंध पाये जाते हैं।
- द्वितीयक समूह वे समूह हैं जिनके सदस्यों के मध्य अप्रत्यक्ष, अवैयक्तिक एवं औपचारिक संबंध पाये जाते हैं।
- समनर ने सदस्यता के आधार पर अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह का उल्लेख किया है।
- प्रस्थिति समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।
- भूमिका प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं।
- भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।
- सामाजिक प्रस्थिति दो प्रकार की होती है प्रदत्त प्रस्थिति एवं अर्जित प्रस्थिति।
- प्रदत्त प्रस्थिति ऐसी प्रस्थिति है जिसे एक व्यक्ति जन्म के आधार पर प्राप्त करता है।
- अर्जित प्रस्थिति ऐसी प्रस्थिति है जिसे एक व्यक्ति योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. 'समाज' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
   (अ) पारसंस (ब) मार्क्स
   (स) बॉटोमोर (द) मैकाइवर एवं पेज

2. सामाजिक संबंधों के जाल को हम क्या कहते हैं?
(अ) समुदाय (ब) संस्था
(स) समाज (द) समिति
3. व्यक्तियों के उस संगठन को क्या कहते हैं जो एक निश्चित भू–भाग पर रहता है।
(अ) समूह (ब) समुदाय
(स) समिति (द) संस्था
4. निम्नलिखित में से किसे एक समुदाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है–
(अ) छात्र संघ (ब) जनजाति
(स) परिवार (द) भीड़
5. किस समाजशास्त्री ने समूह का विभाजन प्राथमिक और द्वितीयक समूह में किया है–
(अ) चार्ल्स कूले (ब) समनर
(स) चार्ल्स विनिक (द) गिलिन एवं गिलिन
6. प्राथमिक समूह में संबंध किस प्रकार के होते हैं–
(अ) औपचारिक (ब) अनौपचारिक
(स) नकारात्मक (द) सकारात्मक
7. कूले के अनुसार कौन–सा प्राथमिक समूह का उदाहरण है–
(अ) परिवार (ब) पड़ोस
(स) क्रीड़ा समूह (द) उपर्युक्त सभी
8. ''प्रस्थिति संस्थात्मक भूमिका है।'' यह कथन किस विद्वान का है–
(अ) सदरलैण्ड (ब) फिचर
(स) बीरस्टीड (द) विलियम गुडे
9. ''भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।'' यह कथन किस विद्वान का है–
(अ) मर्टन (ब) बीरस्टीड
(स) जॉनसन (द) लिंटन
10. प्रदत्त प्रस्थितियों की बहुलता किस प्रकार के समाज की द्योतक है–
(अ) द्वितीयक समाज (ब) मुक्त समाज
(स) बंद समाज (द) वृहद् समाज
11. अर्जित प्रस्थिति किससे संबंधित होती है।
(अ) योग्यता से (ब) जन्म से
(स) शक्ति से (द) जाति से
12. वह प्रस्थिति कौन सी है जो किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है और जिसे प्राप्त करने के लिए उसे मेहनत नहीं करनी पड़ती–
(अ) प्रदत्त प्रस्थिति (ब) अर्जित प्रस्थिति
(स) प्रदत्त भूमिका (द) अर्जित भूमिका
13. व्यक्तिगत गुणों व योग्यता के आधार पर प्राप्त प्रस्थिति को क्या कहते हैं–
(अ) प्रदत्त प्रस्थिति (ब) अर्जित प्रस्थिति
(स) चमत्कारिक प्रस्थिति (द) मनोवैज्ञानिक प्रस्थिति
14. निम्नांकित में से कौन–सी प्रदत्त प्रस्थिति नहीं है–
(अ) प्रजाति (ब) जाति
(स) वर्ग (द) लिंग
15. प्रस्थिति और भूमिका की अवधारणा किस विद्वान से संबंधित है–
(अ) मैकाइवर एवं पेज (ब) किंग्स्ले डेविस
(स) रॉल्फ लिंटन (द) विल्बर्ट मूर
16. मुख्य प्रस्थिति किसकी अवधारणा है–
(अ) मर्टन (ब) दुर्खीम
(स) लिंटन (द) हिलर

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. समाज किसे कहते हैं?
2. समुदाय की परिभाषा दीजिए।
3. समूह को परिभाषित कीजिए।
4. प्राथमिक समूह की अवधारणा किसने दी है?
5. द्वितीयक समूह का क्या तात्पर्य है?
6. संदर्भ समूह किसे कहते हैं?
7. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए।
8. प्रदत्त प्रस्थिति का क्या तात्पर्य है।
9. अर्जित प्रस्थिति किसे कहते हैं?
10. भूमिका को परिभाषित कीजिए।
11. प्रस्थिति संकुल का क्या तात्पर्य है।
12. भूमिका प्रतिमान का क्या तात्पर्य है?
13. सदस्यता समूह किसे कहते हैं।
14. आदिम समाज का क्या तात्पर्य है।
15. नकारात्मक समूह का अर्थ बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. समाज की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. मेकाइवर एवं पेज द्वारा स्पष्ट समाज की परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
3. समुदाय के आवश्यक तत्वों का उल्लेख करें।
4. समाज एवं समुदाय में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. समूह की विशेषताओं का उल्लेख करें।
6. संदर्भ समूह की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
7. प्राथमिक समूह की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
8. प्रस्थिति एवं भूमिका का संबंध बताइये।
9. प्रदत्त प्रस्थिति के आधारों को स्पष्ट कीजिये।
10. अर्जित प्रस्थिति के आधारों को स्पष्ट कीजिये।

निबंधात्मक प्रश्न–

1. समाज को परिभाषित कीजिए। समाज की विभिन्न विशेषताओं की विस्तृत से व्याख्या कीजिए।

2. समुदाय से आप क्या समझते हैं? समुदाय के विभिन्न लक्षणों का विस्तृत रूप से विवेचन करें।
3. समूह को परिभाषित कीजिए। समूह के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करें।
4. समूह क्या है? प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए। प्रस्थिति के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करें।

उत्तरमाला–1. (द) 2. (स) 3. (ब) 4. (ब) 5. (अ) 6. (ब) 7. (द) 8. (स) 9. (द) 10. (स) 11. (अ) 12. (अ) 13. (ब) 14. (स) 15. (स) 16. (द)